ध्रुवस्वामिनी : विचार और विश्लेषण

डॉ० निर्मला
श्री गौतम सचदेव
डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी
डॉ० कन्हैयालाल सहल
डॉ० उर्मिला गुप्ता
डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त
डॉ० देवेश ठाकुर
डॉ० विश्वनाथ मिश्र
डॉ० जगदीशप्रसाद मिश्र
डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम
श्री रघुवरदयाल वार्ष्णेय
डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया
डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त
श्री राजेन्द्रनाथ
श्री शैलेन्द्र
श्री रमेशकुमार खट्टर
डॉ० गोविन्द चातक

ध्रुवस्वामिनी
विचार और विश्लेषण

संपादक

डॉ० गोविन्द चातक

डॉ० उर्मिला गुप्ता

आर्य बुक डिपो

३०, नाईवाला, करौल बाग़, नई दिल्ली-५

प्रकाशक :
आर्य बुक डिपो,
करौल बाग़, नई दिल्ली-५
दूरभाष : 561221

प्रथम संस्करण : १९६८ ई०

मूल्य : ५ रुपये

मुद्रक :
गजेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस,
नवीन शाहदरा, दिल्ली।

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक प्रसाद की सुप्रसिद्ध नाट्यकृति 'ध्रुवस्वामिनी' के अंतरंग विवेचन-विश्लेषण का प्रयास है। दुर्भाग्य से हिन्दी-नाट्यालोचन अभी शैशवावस्था में है। प्रसाद के नाटकों के जो विविध अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं, वे पिटी-पिटाई लीक का ही अनुसरण नहीं करते वरन् कई दृष्टियों से पूर्वाग्रहपूर्ण भी लगते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि या तो प्रसाद के नाटकों की अत्यधिक प्रशंसा की गई है या फिर उन पर वहुत तीव्र आक्षेप किए गए हैं। इतने वर्ष वाद भी नाट्यालोचन के सही मानदंडों को ग्रहण न करने के कारण उनकी आलोचना संतुलित दृष्टि से नहीं की जा सकी। फलतः उन पर वहुत-से गुण-दोष ऐसे आरोपित किये गये, जो वस्तुतः उनके हैं ही नहीं।

प्रस्तुत संकलन-ग्रंथ में अनेक लेखकों की रचनाओं का समाहार होने के कारण एक दृष्टि का होना सम्भव नहीं है। किन्तु, हमने एक सुनिश्चित दृष्टिकोण से इसमें संकलित लेख लिखवाए और संकलित किए हैं। इसलिए पुस्तक के पीछे नई आलोचना दृष्टि ही नहीं, योजनावद्ध विचार और विश्लेषण भी है। संभवतः 'ध्रुवस्वामिनी' का यह पहला अध्ययन है जो प्रसाद के इस नाटक को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य और नाट्यालोचन की एक संतुलित दृष्टि को ध्यान में रखकर किया गया है। इस संग्रह में संकलित लेख नाटक के अधिकारी विद्वानों से लिखाये गए हैं। इसमें 'ध्रुवस्वामिनी' के कुछ पक्षों पर पहली वार ऐसे लेख दिये जा रहे हैं जिन पर या तो कभी विचार नहीं हुआ या विस्तार से विचार नहीं किया गया।

संग्रह-ग्रंथ होने के नाते विचार-विश्लेपण और आलोचना की शैली में वैविध्य होना स्वाभाविक है। फिर भी हमने सम्पादन में उनमें ऐक्य और सामंजस्य स्थापित करने का यथेष्ठ प्रयत्न किया है। इन लेखों में विपय की संवद्धता के कारण पुनरावृत्ति होना स्वाभाविक है, किन्तु उससे वचने का यथास्थान प्रयत्न किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'ध्रुवस्वामिनी' के सम्वन्ध में अपने स्वतन्त्र मत दिए हैं और दूसरों के मतों का भी खंडन किया है। हमारी दृष्टि में आलोचना के स्वस्थ विकास के लिए, और परम्परागत भ्रान्तिपूर्ण विचारों के खंडन अथवा नई दृष्टि से विपय-प्रतिपादन के लिए, यह सव आवश्यक हो जाता है।

अन्त में, हम अपने सभी सुधी लेखकों के प्रति आभारी हैं जिन्होंने हमारे अनुरोध पर इस पुस्तक के लिए वड़े परिश्रम से अपनी रचनाएं लिखीं अथवा अपने प्रकाशित ग्रंथों से सम्वन्धित रचनाएं लेने की कृपापूर्वक अनुमति दी।

—संपादक

विषयानुक्रम

वस्तु-तत्त्व

डॉ० निर्मला

लगभग एक शताब्दी से हिन्दी-नाट्य रचना एवं नाट्य समीक्षा की जा रही है किन्तु अब तक हिन्दी-नाट्य समीक्षा के निश्चित मानदण्ड नही बन पाए हैं। जितनी नाट्य समीक्षाएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें से अधिकांश ऐसी हैं, जिनमें समीक्षकों की दृष्टि एकांगी रही है। परिणाम यह है कि ये समीक्षाएँ साहित्यिक अधिक हैं और इनमें नाटकों की रंगमंचीय उपादेयता अथवा उपयोगिता की ओर दृष्टिपात नहीं हुआ है। इसी एकांगी साहित्यिक दृष्टि के कारण नाटकों का उचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। इधर पिछले कुछ दशकों से देश के विभिन्न प्रान्तों में हिन्दी-रंगमंच को सक्रिय बनाने का प्रयास किया जा रहा है और नाटकों को रंगमंच के आलोक में परखने की प्रवृत्ति बढ़ी है। किन्तु नाटक का इस प्रकार का परीक्षण भी एककोणीय ही है। नाटक न तो शुद्ध साहित्य है, और न ही शुद्ध अभिनय। वह एक मिश्रकला है, जिसमें वास्तु, चित्र, मूर्त्ति, संगीत, काव्य आदि सभी ललित कलाओं का समन्वय रहता है। इसी आधार पर नाटक को काव्य का एक भेद मानते हुए भी सर्वाधिक समर्थ एवं प्रभावशाली कला माना गया है। अतः किसी भी नाट्य कृति के सही मूल्यांकन के लिए नाट्य समीक्षक को नाटक के साहित्यिक पक्ष के साथ साथ उसके रंगमंच सम्बन्धी आयामों को भी दृष्टि में रखना होगा। वर्तमान नाट्य समीक्षक एवं नाट्यकार यह अनुभव करने लगे हैं कि सभी नए-पुराने नाटकों को किसी एक ही 'फ्रेम' अथवा 'चौखटे' में फ़िट करने से नाटक की समीक्षा में यांत्रिकता आ जाएगी और इस प्रकार किसी भी नाट्य कृति के प्रति न्याय नहीं हो सकेगा।

जिस प्रकार यह मत भ्रामक है कि नाटक केवल साहित्य अथवा केवल रंगमंच है, उसी प्रकार किसी भी नाटक के मूल्यांकन के लिए कतिपय परम्पराबद्ध शास्त्रीय नियमों को प्रतिमान के रूप में स्वीकार कर लेने पर नाट्य समीक्षा में एक प्रकार की यांत्रिकता आ जाएगी और उसमें नाट्यकार एवं नाट्य समीक्षक के व्यक्तिगत चिन्तन एवं संकल्पना के लिए अवकाश नहीं रहेगा। साहित्य के मूल्य सदैव परिवर्तित होते रहते हैं, और कोई भी बड़ा कलाकार किसी परम्परा को अपनाते हुए भी, उसका अंधानुकरण न करके स्वच्छन्द मार्ग पर चलता है। नाट्यकार के सृजन के परिप्रेक्ष्य को समझे बिना, शास्त्र के एक ही आकार के 'फ्रेम' में सभी (नए-पुराने) नाटकों को खींचकर अथवा छोटा करके 'फ़िट' कर देना अपने दायित्व की अवहेलना तथा नाट्यकार के प्रति अन्याय है। किन्तु हिन्दी-नाट्य समीक्षाओं की दिशा प्रायः यही रही है। खींच-तानकर सभी नाटकों में नाट्य संधियों, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों, कथा के सूच्य एवं दृश्य तत्त्वों, प्रासंगिक कथाओं के पताका-प्रकरी आदि भेदों का अन्वेषण अथवा पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों का

सायास आरोप किया जाता रहा है, जिनसे अनेक बार नाटककार स्वयं भी परिचित नहीं होता। कोई भी नाट्यकार रचना-प्रक्रिया के समय इस बात को लेकर अधिक चिन्तित अथवा सचेत नहीं रहता होगा कि उसकी नाट्य कृति भारतीय अथवा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र की दराजों में पूरी तरह समा जाएगी अथवा नहीं। आज के निरन्तर परिवर्तित होते हुए साहित्यिक मूल्यों एवं रंगमंच के संदर्भ में उनका विशेष महत्त्व नहीं है। उक्त मत के समर्थन में श्री जगदीशचन्द्र माथुर का यह मन्तव्य अप्रासंगिक न होगा : "मेरा विचार है कि ऐसी परिस्थिति में समीक्षक को वर्गीकरण की पद्धति का आसरा कम से कम लेना चाहिए। खींच-तानकर वर्तमान नाटकों को आरभटी या सात्वती वृत्ति इत्यादि में डाला जा सकता है, अंकों में संधियों का विकास दिखाया जा सकता है, प्रस्तावना में पुरोचना और त्रिगत की उपस्थिति भी खोजी जा सकती है। किन्तु इस तरह की खोज में कोई सार नहीं है, क्योंकि आधुनिक नाटककार उन वर्गों और नियमों से परिचित ही नहीं है।"[१] वर्तमान नाट्यकार भी इस बात को लेकर सजग है कि उसकी नाट्य कृतियों को एक ही दृष्टिविन्दु से न देखकर उसकी समस्त साहित्यिक एवं रंगमंच सम्बन्धी क्षमताओं के साथ देखा जाये। प्रसाद ने यद्यपि भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों की उपेक्षा नहीं की है, किन्तु उनके नाट्य सिद्धान्तों एवं नाटकों के परीक्षण से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने भारतीय अथवा पाश्चात्य नाट्य दृष्टि को अंधभक्ति के साथ ग्रहण नहीं किया है। यही कारण है कि उनके नाटकों की दिशा रंगमंचीय एवं साहित्यिक परम्पराओं को अपनाकर भी स्वच्छन्द रही है। किन्तु उनकी नाट्य रचनाओं का मूल्यांकन करते समय समीक्षकों ने उनके नाटकों को उनके चिन्तन एवं सृजन के परिप्रेक्ष्य में न परखकर शास्त्र की कसौटी पर परखने का प्रयास किया है। इस प्रकार उनकी नाट्य कृतियों की अभिनय-क्षमता की उपेक्षा करके उनके प्रति *अन्याय ही किया गया है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर की निम्नोद्धृत उक्तियाँ हिन्दी-*नाट्य समीक्षा की एकांगिता की ओर ही संकेत करती हैं :

(अ) "हमारी नाट्य समीक्षा ने प्रसाद के नाटकों के कथानकों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता का विश्लेषण किया है या फिर उनमें शास्त्रोक्त अवस्थाएँ और संधियाँ खोज निकाली हैं; और आरम्भावस्था से फलागम तक के कथानक के विकास के सभी चरण उद्घाटित कर दिये हैं। रंगमंच से नाटक को नितान्त विलग और परस्पर निरपेक्ष करके हमने प्रसाद के नाटक-साहित्य के मूल्यांकन के लिए जो शास्त्रीय मानदण्ड अपनाने का प्रयत्न किया, उसकी असंगतियाँ और विरोध आज स्पष्ट हो गए हैं, अब उस आधुनिक रंगमंच और उसकी रूढ़ियों के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट होने लगा है, जिसके लिए प्रसाद ने नाटकों की रचना की।"[२]

---

१. नटरंग, वर्ष १, अंक ३, परिसंवाद : नाट्य समीक्षा के मानदण्ड, पृष्ठ १३।

२. नटरंग, वर्ष १, अंक ३, लेख : नाट्य समीक्षा : स्वरूप और मूल्यों का अन्तर्विरोध, पृष्ठ २५।

समेटा जा सकता। आधुनिक समस्या-नाटक की सर्वप्रथम आवश्यकता है बौद्धिकता, जिसका 'ध्रुवस्वामिनी' में अभाव है। प्रसाद ने केवल तर्क अथवा बुद्धि के बल पर ही समस्या का अंकन नहीं किया है। समस्या-नाटककार अपने कर्त्तव्य की इति केवल समस्या के विभिन्न पहलुओं को चित्रित करने में अथवा रूढ़िबद्ध सामाजिक मान्यताओं को झकझोरने में ही समझता है। इसके अतिरिक्त समस्या-नाटक में बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अन्तःसंघर्ष की प्रधानता रहती है, इसलिए उसमें क्रिया (ऐक्शन) की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य रहता है। प्रसाद जी ने समस्या के साथ उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' के वस्तु-तत्त्व में बाह्य संघर्ष तथा अन्तःसंघर्ष दोनों का महत्त्व है तथा क्रिया का भी अभाव नहीं है। फलतः एक ओर जहाँ यह नाट्य कृति उनके अन्य ऐतिहासिक नाटकों से भिन्न है, वहाँ इसे आधुनिक समस्या-नाटक से भी पृथक् मानना होगा। इसमें समस्या का चित्रण हुआ है, किन्तु प्रसाद ने इसकी रचना में नवीन शिल्प को अपनाकर अपनी स्वच्छन्द चिन्तन-शक्ति का परिचय दिया है।

'ध्रुवस्वामिनी' की समस्या बुद्धि-प्रसूत समस्या न होकर सामाजिक समस्या है, अतएव प्रसाद जी ने इसका समाधान भी बुद्धि द्वारा न खोजकर समाज एवं शास्त्र में खोजा है। प्रसाद जी जिस युग में साँस ले रहे थे, उस युग के भारतीय समाज में अनेक समस्याएँ जन्म ले चुकी थीं। धर्मशास्त्र की आड़ लेकर पुरुष द्वारा नारी पर प्रतिबन्ध लगे हुए थे, और उसे उन्हीं बन्धनों में, बिना आह तक किये तिल-तिल कर घुट जाने को विवश किया जा रहा था। किन्तु उस युग की नारी में चेतना जाग्रत हो रही थी। अतः नारी ने भी पुरुष की भाँति स्वच्छन्द वायु में साँस लेने के अधिकार की माँग अवश्य की होगी। एक सजग कलाकार होने के कारण प्रसाद ने नारी की इस युगव्यापी समस्या को 'ध्रुवस्वामिनी' के माध्यम से अंकित करके समाज के प्रति अपने दायित्व को सफलतापूर्वक निभाया है। 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु का केन्द्रबिन्दु नारी-समस्या है। सभी पात्र तथा घटनाएँ नारी के मोक्ष की समस्या को उभारने में सहायक सिद्ध हुए हैं। वस्तु-संरचना एवं शिल्प की दृष्टि से यह प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

प्रस्तुत नाट्य कृति में प्रसाद ने किसी अनावश्यक एवं असम्बद्ध घटना का समावेश नहीं किया है। ध्रुवस्वामिनी तथा खड्गधारिणी के आरंभिक संवाद से ही हमें ध्रुवस्वामिनी अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट दिखाई देती है। इसके उपरान्त रामगुप्त द्वारा शकराज के संधि-प्रस्ताव को स्वीकृति मिलने पर वह नारी की असहाय एवं विवश स्थिति के प्रति स्पष्ट शब्दों में विद्रोह करते हुए कहती है: "पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते।"[1] ध्रुवस्वामिनी

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २६।

के इन शब्दों में पुरुषमात्र के प्रति नारी के अविश्वास एवं विद्रोह को अभिव्यक्ति मिली है। अपने प्रति चन्द्रगुप्त के विश्वास एवं प्रेम को जानकर ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के प्रति विद्रोह की भावना को कार्यान्वित करने के लिए सन्नद्ध होती है। द्वितीय अंक में कोमा का प्रसंग काल्पनिक है, किन्तु उसके द्वारा भी समस्या की पुष्टि हुई है। उदाहरणार्थ उसकी यह उक्ति देखिये : "किन्तु, राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले बिना नहीं हो सकता ?"[1] यहाँ पुरुष के साधिकार निष्ठुर अत्याचारों के प्रति नारी-हृदय का आक्रोश व्यक्त किया गया है। कोमा के चरित्र की सृष्टि के द्वारा शकराज के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है, इस दृष्टि से भी नाटक में उसका अस्तित्व अनावश्यक नहीं है। कोमा के द्वारा प्रसाद ने समाज की दो नारियों के चरित्रगत वैषम्य को भी स्पष्ट किया है। एक ओर कोमा है, जो शकराज की समस्त निष्ठुरता एवं निरपेक्षता को प्रत्यक्ष विद्रोह किए बिना मौन भाव से सहन करती है और स्वयं को शकराज से विलग कर लेती है, किन्तु अपने हृदय में प्रेम-दीप जलाए रखती है। इसके विपरीत ध्रुवस्वामिनी विद्रोह करके नारी के अधिकारों की माँग करती है तथा अन्ततः रामगुप्त से मोक्ष की अधिकारिणी बनती है। तृतीय अंक में कोमा और मिहिरदेव का शकराज के शव को माँगने के लिए आना, सैनिकों द्वारा उनका वध, मंदाकिनी, ध्रुवस्वामिनी और पुरोहित का वार्त्तालाप, चन्द्रगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी के प्रति प्रेम की स्वीकृति, राज्य-परिषद् का निर्णय आदि प्रसंग काल्पनिक हैं। किन्तु इनके द्वारा प्रसाद ने समस्या को चरमबिन्दु तक पहुँचाने का प्रयास किया है तथा रामगुप्त के वध के लिए उपयुक्त नाटकीय परिस्थिति का निर्माण किया है। इस प्रकार सभी प्रसंगों का अपना नाटकीय महत्त्व है। प्रथम अंक में कुबड़े, बौने आदि का प्रसंग भी निरर्थक नहीं है। रामगुप्त की पौरुषहीनता, नीचता आदि चारित्रिक विशेषताओं को उभारने में तथा ध्रुवस्वामिनी के हृदयगत आक्रोश को प्रखर बनाने में ही इस प्रसंग की सार्थकता है। अतएव 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु में अनावश्यक प्रसंगों का अभाव है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने दृश्य-सूच्य नाम से नाट्यवस्तु को दो खण्डों में विभाजित किया है। वध, हत्या, स्नान, भोजन, आलिंगन आदि को रंगमंच की दृष्टि से वर्जित दृश्य माना गया है। किन्तु प्रसाद जी के नाटकों में भारतीय नाट्य वर्जनाओं की प्रत्यक्ष अवहेलना हुई है और उन्होंने वध, हत्या आदि के दृश्यों के चित्रण द्वारा अपनी स्वच्छन्द मनोवृत्ति को अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति दी है। 'ध्रुवस्वामिनी' में भी रंगमंच पर ही शकराज एवं रामगुप्त की हत्या कराई गई है। शास्त्र की दृष्टि से वर्जित होने पर भी नाटकीय दृष्टि से इन दृश्यों का विशेष महत्त्व है। रंगमंच पर इन हत्याओं के प्रदर्शन से इनका जितना तीव्र एवं नाटकीय प्रभाव पड़ सकता है, संभवतः सूचना-मात्र देने से उतना तीव्र एवं नाटकीय प्रभाव न पड़ता। अतः स्पष्ट है कि 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु में नाट्यकार ने शास्त्रीय नियमों की अधिकांशतः

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ८३।

उपेक्षा करके एक नवीन प्रयोग किया है, जिसमें उन्हें सफलता भी मिली है। किसी भी साहित्य में इस प्रकार के प्रयोग उसके निरन्तर विकास की सूचना देते हैं। प्रसाद के नाटकों की इस स्वच्छन्दता को देखते हुए भी अधिकांश नाट्य समीक्षक शास्त्रीय दृष्टि से इतने अधिक आक्रांत हैं कि उन्होंने उनके सभी नाटकों को पुराने मानदण्डों से मापने का प्रयास किया है।[1] किन्तु उनके नाटकों के परीक्षण से भारतीय नाट्यवस्तु की रूढ़ियों के निर्वाह के प्रति किसी प्रकार का पूर्वाग्रह लक्षित नहीं होता। यही कारण है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में अर्थोपक्षेपकों का अभाव है और नांदीपाठ, मंगलाचरण, भरतवाक्य आदि को तो वे अपने पूर्वरचित नाटकों में ही तिलांजलि दे चुके थे।

'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु मे शिल्प सम्बन्धी अथवा अभिनय सम्बन्धी दोष नहीं हैं। सभी घटनाएँ समस्या का चित्रण करती हुई उसे तीव्र गति से चरमविन्दु तक पहुँचाती हैं और समस्या का नाटकीय समाधान प्रस्तुत करने में सहायक होती हैं। इसका कथानक सुगठित है। न तो इसमें अनेक परस्पर असम्वद्ध कथानकों को समेटने का प्रयास किया गया है और न ही कथानक को अनेक अनावश्यक प्रासंगिक कथाओं के द्वारा जटिल वनाया गया है। नाटक का रंगमंच के साथ अविच्छिन्न सम्वन्ध है, अत: उसकी रंगमंचीय सीमा को देखते हुए उसमें केवल उन्हीं प्रासंगिक कथाओं के लिए अवकाश रहता है जिनका मूल कथा से अविच्छेद्य संबंध हो, जिनके अभिनय में किसी प्रकार की कठिनाई न हो तथा प्रेक्षकों को समझने में अधिक प्रयास न करना पड़े। प्रसाद के अन्य नाटकों की वस्तु-संरचना में रूपवन्ध एवं रंगमंच सम्वन्धी अनेक दोष द्रष्टव्य हैं, किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' इन दोषों से सर्वथा अछूती नाट्य कृति है। इसमें एक ही प्रमुख कथा है, जो सरल है एवं कार्य-कारण-शृंखला में निवद्ध है। सामान्य प्रेक्षक भी विना किसी प्रकार के बौद्धिक प्रयास के उसकी मूल संवेदना को समझ सकता है और इसी संप्रेषणीयता में नाट्यकार की सर्वाधिक सफलता है।

'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु की अन्य उल्लेखनीय विशेषता है—रोचकता एवं कुतूहल। कोई भी प्रसंग अथवा क्रिया ऐसी नहीं है जो प्रेक्षक को उवा दे। आरम्भ से अन्त तक निरन्तर जिज्ञासा वनी रहती है; और अन्त में रामगुप्त के वध के साथ ही उसका शमन होता है। जिज्ञासा अथवा कुतूहल के अभाव में कोई भी नाट्य कृति, चाहे वह कितनी ही कलात्मक क्यों न हो, प्रेक्षकों की दृष्टि को बाँधने में सफल नहीं हो सकती। इस दृष्टि से भी 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु निर्दोष है। इसमें 'चन्द्रगुप्त', 'राज्यश्री' आदि नाटकों की भाँति दीर्घकालीन घटनाओं के आकलन का प्रयास नहीं किया गया है, अत: इसका अभिनय दो-तीन घंटे की अवधि में सुगमता से किया जा सकता है।

---

१. देखिए 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पृष्ठ १८६ तथा 'प्रसाद की नाट्यकला,' डॉ० रामसेवक पाण्डेय, पृष्ठ २४६।

'ध्रुवस्वामिनी' में कार्य-व्यापार की शृंखला कहीं भी खण्डित नहीं होती। कथावस्तु एक वेगवती नदी की भाँति आद्यन्त प्रखर वेग के साथ प्रवाहित होकर अन्तिम परिणति को प्राप्त हुई है। कार्य-व्यापार की तीव्रता द्वितीय अंक में थोड़ी शिथिल अवश्य हुई है, किन्तु सभी अंकों का अन्त अत्यन्त नाटकीय ढंग से हुआ है। प्रसाद के नाटकों पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' आदि कृतियों में कथावस्तु को अनेक प्रासंगिक एवं दीर्घकालिक घटनाओं के द्वारा इतना विशृंखल एवं जटिल बना दिया गया है कि उनकी कथावस्तु में आवयविक अन्विति नहीं आ पाई है, किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु के समस्त अवयव एक ही मूल समस्या से जुड़े हुए हैं, परिणामतः इसमें पाश्चात्य नाट्यान्वितियों का स्वतः निर्वाह हो गया है। इस नाटक का मूल कार्य-व्यापार एक ही है, सभी घटनाएँ उसी का अंग बनकर आई हैं, अतः इसमें कार्य एवं प्रभाव की अन्विति उपलब्ध होती है। सभी घटनाएँ एक ही स्थान पर तो घटित नहीं होतीं, किन्तु तीनों अंकों के घटना-स्थलों में अधिक व्यवधान न होने से स्थल-अन्विति भी है और घटनाओं के घटित होने की अवधि भी बहुत कम है। वर्तमान नाटककार केवल कार्यान्विति पर बल देता है, तथापि प्रभावान्विति के लिए यह भी आवश्यक है कि नाटकीय घटनाओं में स्थान एवं समय का बहुत अधिक व्यवधान न हो।

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद के अन्य नाटकों की अपेक्षा कम गीत हैं। जो चार गीत इसमें आए हैं, वे कथावस्तु का अंग बनकर आए हैं और प्रसंगानुकूल हैं। इसके विपरीत 'चन्द्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' आदि में गीत-संख्या बहुत अधिक है तथा अनेक स्थलों पर वे कथावस्तु एवं प्रसंग से निःसंग होने के कारण ऊपर से जोड़े गए प्रतीत होते हैं। रंगमंच की दृष्टि से बहुत अधिक एवं बहुत लम्बे गीत कार्य-व्यापार की गति को शिथिल कर देते हैं। शिल्प की दृष्टि से भी 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु में अभिनय के तत्त्व अधिक हैं। संभवतः पाश्चात्य यथार्थवादी नाटककारों से प्रभावित होने के कारण प्रसाद जी ने 'ध्रुवस्वामिनी' को रंगमंच के योग्य बनाने का अधिक प्रयास किया है। बार बार दृश्य परिवर्तन न करके उन्होंने इस नाटक में केवल तीन अंकों की योजना की है तथा दृश्य भी ऐसे हैं जिनका रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण कठिन नहीं है। इस नाटक की रचना करते समय प्रसाद जी स्वयं भी रंगमच तथा अभिनय सम्बन्धी सीमाओं के प्रति अधिक सजग प्रतीत होते हैं। उनके अन्य नाटकों में दृश्यांकन एवं दृश्यबन्ध सम्बन्धी निर्देश एवं अभिनय-सकेत नहीं मिलते, किन्तु इस नाट्य कृति में उन्होंने विस्तृत निर्देश दिए हैं, जिनके द्वारा निर्देशक एवं अभिनेता लाभ उठा सकते हैं; और नाट्यकार के निर्देशों के अनुकूल अभिनय करके उसकी नाटक सम्बन्धी संकल्पना की रक्षा कर सकते हैं। निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु शिल्प एवं रंगमंच दोनों की दृष्टि से सुबद्ध है। इस कृति में प्रसाद भारतीय आदर्शवादिता का जामा उतारकर यथार्थवादी नाट्यकार के रूप में उपस्थित हुए हैं।

ऐतिहासिक आधार

श्री गौतम सचदेव

गुप्तवंश पर हुई अद्यतन खोजों के आधार पर भी अभी तक रामगुप्त से सम्बद्ध प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत नहीं हो सका है। इसलिए जितनी सामग्री प्रसाद के जीवन-काल तक उपलब्ध थी (और जिसका 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के रूप-निर्माण में प्रयोग हुआ) उसी के सम्यक् विवेचन-विश्लेषण के आधार पर 'ध्रुवस्वामिनी' के ऐतिहासिक आधार पर विचार करना उचित होगा।

ध्रुवस्वामिनी, रामगुप्त और शकराज के विषय की प्रारम्भिक सूचना चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'खसों के हाथ ध्रुवस्वामिनी' नामक अपने लेख में 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका' में दी थी। इस संकेत-सूत्र को पकड़कर इतिहासकारों ने जो तथ्य-राशि प्रस्तुत की, उसमें सिल्वां लेवी द्वारा 'जर्नल एशियाटिक' में १९२३ ई० में प्रकाशित (रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण' में उद्धृत) विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के कुछ अंश उल्लेखनीय हैं।[1] गुलेरी जी ने गुप्तकुलवधू का रामगुप्त की कापुरुषता से खसों (शकों) के हाथ पड़ जाना और चन्द्रगुप्त की शूरवीरता से उसका बचना प्रमाणित किया था। इतिहास इस विषय में मौन था। यद्यपि समुद्रगुप्त की मृत्यु (३७५ ई०)

---

१. जर्नल एशियाटिक, १९२३, पृष्ठ २०१-२०६। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के तथोक्त अंश हैं: यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवी संप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधार्थं यियासुः प्रतिपन्न ध्रुवदेवी नेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते—एतस्त्रीवेषधारि चन्द्रगुप्तबोधनार्थमभिहितमपि विशेषण साम्येन ध्रुवदेव्या स्त्रीविषय प्रतिपन्नमिति।

आर्तिछेदो व्यसननिष्कृतिरोधः यथा देवीचन्द्रगुप्ते राजा चन्द्रगुप्तमाह अत्र स्त्रीवेषनिह्नुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्रीभ्रमाद् ध्रुवदेव्या गूढमनुसंताप-रूपस्य व्यसनस्य संप्राप्तिः।

इयमुन्मत्तस्य चंद्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनोजनमुखीनस्य राजकुल-गमनार्थं निष्क्रम सूचिकेति।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते चन्द्रगुप्तो ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह—इयमपि सा देवी तिष्ठति। येया

रम्यां चारतिकारिणी च करुणा शोकेन नीता दशां तत्कालोपगतेन राहु-शिरसा गुप्तेव चान्द्री कला। पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः लज्जा-कोपविषाद भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते। अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः।

और उसके कनिष्ठ पुत्र चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक (३८० ई०) में पाँच वर्ष का अन्तराल था जिसे इतिहासकारों ने अराजकता का युग कहकर सन्तोष कर लिया था, किन्तु जब 'देवीचंद्रगुप्तम्' का कुछ अंश सामने आया तो इतिहास-ग्रंथ न होने पर भी सहसा इस ग्रंथ की उपेक्षा न की जा सकी। इससे रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की कथा के कुछ सूत्र मिले और इस प्रकार पुस्तक के प्राप्तांश की संक्षिप्त कथा इस प्रकार बनती है: "नृप रामगुप्त का शक को ध्रुवदेवी प्रदान करना चन्द्रगुप्त को अच्छा न लगा। ध्रुवदेवी को संकट से बचाने के लिए उसने स्त्री-वेष धारण करके जाने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के सब भाँति मनोहर, सुन्दर और रम्या होने पर भी प्रेमवंचिता होने का दुःख माना। उसे लगा कि ध्रुवदेवी के यौवन की रामगुप्त ने अवहेलना करके उसे बहुत कष्ट दिया है।"

उपर्युक्त सामग्री के आधार पर समुद्रगुप्त व चन्द्रगुप्त के बीच एक अन्य अयोग्य व परिवर्तनीय शासक रामगुप्त लेखक की कल्पना का आधार बन गया। इसकी परिवृद्धि और विकास दो प्रकार के प्रमाणों से किया गया—एक, साहित्यिक उल्लेख जिनमें रामगुप्त व चन्द्रगुप्त के कटु सम्बन्ध और पूर्वोक्त व्यक्ति की हत्या व उत्तरोक्त का अभिषेक व भाभी से विवाह होना ढूंढ़ा गया और दूसरे, उस काल से सम्बन्धित ऐतिहासिक प्रमाणों से इसे पुष्ट किया गया। प्रथम वर्ग में बाणभट्ट का 'हर्ष चरित', राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' और भोज का 'शृंगारप्रकाश' रखे जा सकते हैं। 'हर्षचरित' (सातवीं शताब्दी) के अनुसार—"अरिपुरे च परकलत्र कामुकं कामिनी-वेशश्चन्द्रगुप्तो शकपतिमशातयत्"—शत्रु के प्रदेश में परस्त्रीकामी शकपति का स्त्री-वेषधारी चन्द्रगुप्त ने वध कर डाला। इस ग्रंथ पर शंकरार्य की टीका इसी घटना का विशेष स्पष्टीकरण करती है: "शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चंद्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चंद्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषं जनपरिवृतेन व्यापादितः।" अर्थात् "अपने भाई की पत्नी ध्रुवदेवी में अनुरक्त शकाधिपति को चंद्रगुप्त ने ध्रुवदेवी-जैसा स्त्री-वेष बनाकर मार डाला।" दसवीं शताब्दी में कन्नौज के शासक यशोवर्मा के राजपंडित राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' में इस संदर्भ का किंचित् नाम-परिवर्तन के साथ उल्लेख किया गया है: 'शर्मगुप्त (रामगुप्त) ने हिमालय प्रदेश में खसाधिपति के बढ़ते हुए आक्रमण को रोकने के लिए ध्रुवस्वामिनी को दे दिया था। उसका उद्धार करनेवाले चन्द्रगुप्त का कीर्ति-गान कार्तिकेय नगर की स्त्रियाँ अब भी करती हैं।"[1]

ग्यारहवीं शताब्दी में रचित भोज के 'शृंगारप्रकाश' में भी चंद्रगुप्त के

---

१. दत्वा रुद्धगति खसाधिपतये देवीध्रुवस्वामिनीम् यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तोनृपः। तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणात् क्वणत्किन्नरे गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

स्त्री-वेष-धारण और शत्रु के स्कंधावार में उसकी हत्या करने का उल्लेख है,[1] जिसकी शब्दावली 'देवीचंद्रगुप्तम्' से पूर्णतः प्रभावित प्रतीत होती है।

उपर्युक्त तीनों पुस्तकों में एक ही घटना का उल्लेख उसकी परम्परा की पुष्टि करता है। सातवीं, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के ये उल्लेख स्त्री-वेष में चन्द्रगुप्त की साहसिकता को जनश्रुति (लीजेंड) बना देते हैं। शायद इसीलिए बाद में भी तथ्य-संग्रहकर्त्ता इतिहासकारों को उक्त घटना की प्रामाणिकता असंदिग्ध प्रतीत हुई। तेरहवीं शताब्दी के अबुलहसन अली की पुस्तक 'मजमू-उत्-तवारीख' में इस लोककथा की, और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की, अनुकृति ही है। अली साहब ने घटना के सभी पक्षों की कल्पना विस्तार से की है। नाम बदले होने पर भी कहानी पुरानी ही है: "रव्वाल (रामगुप्त) व बर्कमारीस (विक्रमादित्य) दो भाई थे। रव्वाल राजा और बड़ा था। एक स्वयंवर में बर्कमारीस ने रानी (ध्रुवस्वामिनी ?) को पाया था, लेकिन रव्वाल ने उससे बलात् विवाह कर लिया। एक बार रव्वाल के पिता के एक शत्रु ने आक्रमण करके उसे घेर लिया एवं राजकुमारी व अन्य सरदारों की पुत्रियाँ प्राप्त करना सन्धि की शर्त में मनवा लिया। तब बर्कमारीस ने रव्वाल की अनुमति से स्त्री-वेष में सरदारों के साथ शत्रु का नाश कर दिया। उसकी बढ़ती हुई शक्ति को देखकर रव्वाल के मन्त्री ने बर्कमारीस के विरुद्ध रव्वाल को भड़काया। बर्कमारीस पागल बनकर घूमने लगा। एक संध्या को अवसर पाकर एकांत में बैठे रव्वाल को उसी के छुरे से बर्कमारीस ने मार दिया। वह गन्ना चूसता हुआ वहाँ आया था और गन्ना छीलने के लिए उसने छुरा प्राप्त किया था। इस प्रकार वह राज्य तथा रानी का स्वामी हुआ।"

यहाँ तक तो साहित्यिक सामग्री का उल्लेख हुआ। अब इससे सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य देखें। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त व उसके बाद के एक अन्य राजा के शिलालेखों, सिक्कों और दान-पत्रों की चर्चा इस संदर्भ में की जा सकती है।

समुद्रगुप्त के समय एक प्रथा थी—'कन्योपायनदान', जिसके अनुसार विजित राजा विजेता को स्थायी सन्धि के लिए अपनी कन्या (या बहन) उपहारस्वरूप देता था। इस प्रकार पारिवारिक सम्बन्ध जोड़कर भावी वैमनस्य का अन्त कर दिया जाता था। समुद्रगुप्त का प्रयाग का स्तम्भ-लेख इसका वर्णन करता है कि "दैवपुत्र-शाहिशाहानुशाहि, शक, मुरुण्ड तथा सैंहल आदि राज्यों ने आत्मनिवेदन, कन्याओं की भेंट व समुद्रगुप्त की मुद्रा का अधिकार मानकर उसकी अधीनता स्वीकार की।"[2]

---

१. स्त्रीवेषनिह्नुतः चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कंधावारमलिपुरं शकपतिवधायागमत्। यथादेवीचन्द्रगुप्ते शकपतिना परं कृच्छ्रमापादितं रामगुप्तस्कंधावाराम् अनुजिघृक्षुरुपायान्तर-अगोचरे प्रतिकारे निशि वेतालसाधनम्। अध्यवस्यन् कुमारचन्द्रगुप्त आत्रेयेण विदूषकेन उक्तः।

२. डॉ० वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ ४८ (परिशिष्ट)।

समुद्रगुप्त का एरण का स्तम्भ-लेख बताता है कि उसके अनेक पुत्र थे; और राजा जब विजय-यात्रा पर जाता था तो अपने पुत्र-पौत्रों को साथ ले जाता था :

"नित्यङ्गहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्र संक्रामिनी कुलवधु: व्रतिनी निविष्टा······।"[१]

चन्द्रगुप्त की पुत्री राजकुमारी प्रभावती के दान-पत्र में एक शब्द आता है 'तत्परिगृहीत', जो रामगुप्त के राज्याभिषेक पर प्रकाश डालता है।[२] यह जो कहा जाता है कि समुद्रगुप्त द्वारा मनोनीत युवराज चन्द्रगुप्त था लेकिन इसकी प्रकटत: सम्मति न ली जा सकने के कारण बाद में रामगुप्त ने ज्येष्ठ राजकुमार होने के बल पर राज्य पाया, ठीक ही है।[३] हो सकता है कि कुल-मर्यादा के लिए चन्द्रगुप्त ने भरत के समान आचरण करके इसे स्वीकार किया हो।

गुप्त राजाओं के मन्त्री युद्ध-सन्धि-विग्रहिक भी होते थे। उदयगिरि का अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के सन्धि-विग्रहिक को 'अन्वयप्राप्त साचिव्यो व्यापृत सन्धि विग्रह:'[४] बताता है। चन्द्रगुप्त के करमदण्डा के अभिलेख में उसके सन्धि विग्रहिक का नाम भी दिया हुआ है : 'शिखरस्वामिन्'।[५]

गुप्त-काल के दो प्रकार के सिक्के मिलते हैं। एक प्रकार के सिक्के वे हैं, जिन पर 'काच' शब्द अंकित है; दूसरे चन्द्रगुप्त के सिक्के हैं, जिन पर 'रूपकृती' अंकित है। 'काच' के विषय में बड़ा मतभेद है कि ये किसके हैं? डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी 'काच' को समुद्रगुप्त का पूर्वनाम कहकर इनका सम्बन्ध समुद्रगुप्त से जोड़ते हैं।[६] विन्सेंट स्मिथ 'काच' को समुद्रगुप्त का बड़ा भाई मानते हैं। भण्डारकर ने इसे 'राम' पढ़कर ये सिक्के रामगुप्त के सिद्ध किये हैं।[७] प्रसाद जी को भी यही मत मान्य है। 'रूपकृती' की व्याख्या करते हुए जॉन एलन 'रूप+आकृति' तक पहुँचते हैं। निश्चय ही यह बादरायण-सम्बन्ध है। इनसे बहुत अच्छी व्याख्या तो स्वयं प्रसाद ने की है : "रूपकृती विरुद का उल्लेख करके चन्द्रगुप्त अपने उन साहसिक कार्य की स्वीकृति देता है जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदल कर किया है; और जिसका पिछले काल के लेखकों ने भी समय समय पर समर्थन किया है।"[८]

---

१. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ ४६।
२. वही, पृष्ठ १२०।
३. 'आक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया', स्मिथ, पृष्ठ १६८ तथा 'भारत का प्राचीन इतिहास' : नगेंद्रनाथ घोष, पृष्ठ २७६।
४. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ ५२।
५. Epigraphica Indica, p. 10; प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ ५५।
६. प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ १८६।
७. Malaviya Commemoration Volume, 1932, pp. 204-206.
८. ध्रुवस्वामिनी, भूमिका, पृष्ठ ४।

प्राचीन उपलब्ध सामग्री में एक शिलालेख और विचारणीय है। दक्षिण के राजा अमोघवर्ष प्रथम के संजान ताम्रपत्र में, जिसका लिपिकाल ८७१ ई० है, इस घटना का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[१] उसमें कलियुग में एक गुप्तवंशी राजा की दानशीलता का उल्लेख है और उसके द्वारा भाई को मारने, राज्य पाने व महादेवी से विवाह करने की चर्चा है। यह गुप्तवंशी राजा कौन था ? भण्डारकर जी इसका नाम स्कन्दगुप्त बताते हैं। लेकिन यह असत्य है, क्योंकि हूणों के आक्रमण से आर्थिक संकटग्रस्त स्कन्दगुप्त न महादानी था, न भाई का हत्यारा और न भाभी का दूसरा पति। चन्द्रगुप्त दानशीलता के लिए प्रसिद्ध है ही, तब सिवाय उसके और कोई नाम जँचता नहीं, जो अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध है।

उपर्युक्त तथ्यों से ये निष्कर्ष निकलते हैं :

(क) समुद्रगुप्त व चन्द्रगुप्त के बीच रामगुप्त भी अल्प काल के लिए राजा हुआ।

(ख) हिमालय के किसी भाग में रामगुप्त शकों से घिर गया तो उसने ध्रुवदेवी को देकर प्राण-रक्षा चाही।

(ग) चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी को शत्रु को दे देने का विरोध किया। स्त्री-वेष में उसने स्वयं शत्रु के स्कन्धावार में जाकर उसकी हत्या की।

(घ) रामगुप्त की मृत्यु के उपरांत चन्द्रगुप्त राजा ही नहीं, ध्रुवदेवी का स्वामी भी बना।

(ङ) ध्रुवदेवी का गुप्त-कुल में आगमन स्यात् 'कन्योपायनदान' के कारण हुआ।

(च) चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी और रामगुप्त के अतिरिक्त शकाधिपति तथा शिखरस्वामी भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

ये निष्कर्ष सर्वमान्य नहीं हैं, अधिकांश के विषय में मतभेद हैं। यदि रामगुप्त का होना स्वीकार करते हैं तो प्रश्न उठता है कि गुप्त-वंश के अभिलेखों में उसका उल्लेख क्यों नहीं हुआ ? प्रसाद जी इसका समाधान इस प्रकार करते हैं : "यह कहना कि रामगुप्त नाम का कोई राजा गुप्तों की वंशावली में नहीं मिलता, और न किसी अभिलेख में उसका वर्णन आया है, कोई अर्थ नहीं रखता। समुद्रगुप्त के शासन का उल्लंघन करके, कुछ दिनों तक साम्राज्य में उत्पात मचाकर, जो राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्धान हो गया हो, उसका अभिलेख वंशावली में न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं।"[२] 'काच' और 'रूपकृती' वाले सिक्के, शिलालेख, दान-पत्र व साहित्यिक उल्लेख रामगुप्त के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि रामगुप्त, शकराज और चन्द्रगुप्त का युद्ध

---

१. हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं स दीनस्तया लक्ष कोटिमलेखयन् किलकिलोदाता स गुप्तान्वयः।—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ १५५ से उद्धृत।

२. ध्रुवस्वामिनी, भूमिका, पृष्ठ ४।

कहाँ पर हुआ था ? राजशेखर के अनुसार यह युद्ध हिमालय पर कार्तिकेय नगर में या कहीं उसके आसपास हुआ था। भोजराज के अनुसार यह युद्ध 'अलिपुर' में हुआ था। भण्डारकर जी पहले मत के समर्थन में अल्मोड़ा ज़िले के कार्तिकेयपुर का नाम लेते हैं। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने कांगड़ा ज़िले के 'अलिवाल' को इस घटना का स्थल घोषित किया है।

एक अन्य जिज्ञासा यह हो सकती है कि चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के दिये जाने का विरोध क्यों किया था ? 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में इसके दो कारण दिये गए हैं—(क) चन्द्रगुप्त व ध्रुवस्वामिनी का प्रेम, (ख) चन्द्रगुप्त का कुल-मर्यादा का रक्षक होना। जहाँ तक दोनों के प्रेम का सम्बन्ध है, 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में चन्द्रगुप्त की ध्रुवदेवी के प्रति धारणा इस ओर इंगित करती है। दूसरी बात स्पष्टतः स्वीकार्य है, शकराज की हत्या के विषय में कोई शंका ही नहीं है।

रामगुप्त की मृत्यु चन्द्रगुप्त के हाथों हुई थी, जिसका प्रमाण 'हर्षचरित', 'संजान ताम्रपत्र' व 'मजमू-उत्-तवारीख़' में मिलता है, किन्तु डॉ० जायसवाल इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार "बहुत संभव है यह प्रजा के विद्रोह द्वारा हुआ हो।" प्रसाद ने भी चन्द्रगुप्त के चरित्र की निष्कलंकता के लिए रामगुप्त पर किसी सामन्त-कुमार से प्रहार करवाया है और वह भी रामगुप्त के द्वेषपूर्ण व्यवहार के कारण।

चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी का पुनर्लग्न प्राचीन तथ्यों के आधार पर प्रायः सभी इतिहासकारों को मान्य है। भण्डारकार ने पराशर व नारद स्मृतियों के आधार पर उस काल में इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था होने का भी प्रमाण दिया है। यदि उक्त स्मृतियों को पूर्वकालीन व्यवस्थापिकाएँ माना जाए, तो कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के धर्मस्थीय प्रकरण में पुरुषों व स्त्रियों के मोक्षाधिकारों को उद्धृत किया जा सकता है। इन प्रमाणों से उक्त घटना का नैतिक औचित्य भी सिद्ध हो जाता है। यह भी संभव है कि दोनों का परस्पर स्नेह ही रामगुप्त के बाद उनके विवाह में परिणत हुआ हो।

शकों का आक्रमण उस काल की ऐतिहासिक घटना है। इस विषय में भी दो शंकाएँ उठती हैं—(क) रामगुप्त हिमालय के उस स्थान पर क्यों गया था ? (ख) शकराज कौन था ? पहली का समाधान है कि रामगुप्त आक्रमणकारी को रोकने गया था। एक और संभावना भी है—समुद्रगुप्त के समान रामगुप्त भी दिग्विजय-यात्रा पर निकला हो। कुछ भी हो, परन्तु हुआ यह उसका मोह-भंग ही। दूसरी शंका के साथ एक शंका और है। पश्चिम के शक उत्तर में कैसे पहुँच गए ? इतिहासकारों का विचार है कि शकराज शकों की पश्चिमी शाखा का रुद्रसिंह तृतीय था जो रुद्रदाम का प्रपौत्र और अमंद का पुत्र था।[1] उत्तर में उसके पहुँचने का कारण हो सकता है—समुद्रगुप्त द्वारा शकों का खदेड़ दिया जाना। 'मजमू-उत्-तवारीख़' में रव्वाल व वर्कमारीस का पर्वत पर लड़ने जाना लिखा है। इसके संकेत चन्द्रगुप्त के उदयगिरि गुहालेख

१. देखिये 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन,' पृष्ठ ५१।

में भी मिलते हैं ।[1] कार्तिकेय नगर कर्तृपुर प्रदेश में स्थित था जो समुद्रगुप्त के समय का एक राज्य था । यह उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी आता है ।

शिखरस्वामी का ऐतिहासिक व्यक्ति होना तो असंदिग्ध है, लेकिन क्या वह रामगुप्त के दरबार में भी था और बाद में चन्द्रगुप्त द्वारा नियुक्त हुआ अथवा केवल चन्द्रगुप्त से ही उसका सम्बन्ध था, इन प्रश्नों का कोई समाधान नहीं मिलता ।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की रचना में उपर्युक्त सभी संदिग्ध, असंदिग्ध, साहित्यिक व ऐतिहासिक बातों को आधार बनाया गया है । उपर्युक्त प्रामाणिक घटनाओं व पात्रों के अतिरिक्त नाटक के शेषांश को काल्पनिक कहा जाएगा । लेकिन यहाँ एक प्रश्न उठता है, क्यों न 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की घटनाओं को ऐतिहासिक माना जाए । विशाखदत्त चन्द्रगुप्त का समकालीन नाटककार था, फलत: वह इन घटनाओं का साक्षी हो सकता है ।[2] यह मान लेने पर भी 'ध्रुवस्वामिनी' का स्थूल अस्थिपंजर ही प्राप्त तथ्यों से अनुमोदित या युक्त है, उसका सूक्ष्म तंतुजाल, रक्त-माँस तो सब लेखक की आदर्शवादी कल्पना से निर्मित हुआ है ।

इतिहास और कल्पना

इतिहास विगत काल के अवशेषों के आधार पर उस काल की तथ्य परक व्याख्या व स्वरूप-निर्धारण करता है । कल्पना पूर्व अनुभूतियों की पुनर्योजना से अपूर्व अनुभूति उत्पन्न करने की क्रिया या शक्ति का नाम है । क्या दोनों में मेल संभव है ? उत्तर होगा —'हाँ' । इतिहास तथ्यपरक होने पर भी तथ्यसंग्रहकर्त्ता की रुचि, मान्यताओं और योग्यता द्वारा नियमित होता है । विगत ऐतिह्य का शुष्क अनुकरण होने पर भी इतिहास में तथ्यों का संकलन व संयोजन कल्पना द्वारा ही संभव होता है । दूसरी ओर कल्पना भी पहले देखे, सुने, पढ़े हुए पर आधारित होती है । पूर्व अनुभूतियों की पुनर्योजना यथार्थ का अपूर्व रूप है । अत: लक्ष्य भिन्न होने पर भी दोनों विरोधी नहीं रह पाते । साहित्य में तो यह दूरी और भी कम हो जाती है । ऐतिहासिक विषय-वाला साहित्य इतिहास व कल्पना को अंगांगीभाव प्रदान कर देता है । तब इतिहास-सत्य 'इतिहास-रस' के रूप में बुद्धिविलास-मात्र न रहकर अनुभवगम्य हो जाता है । 'ध्रुवस्वामिनी' में भी इतिहास और कल्पना का ऐसा ही संयोग हुआ है । ज्ञात-अज्ञात तथ्यों को नाटककार ने अपनी कल्पना से सर्वथा आस्वाद्य और विश्वसनीय

---

1. Dandekar, *A History of the Guptas.*
2. "It may be possible, he (Vishakhdatta) was actually a contemporary of Chandragupta II, as suggested by Hillebrandt, Tawney, Vincent Smith and Jaiswal, and was thus an eye witness of the events represented in Devichandragupta."

—Dandekar, *Ibid.*

बना दिया है। स्थूल ऐतिहासिक अस्थिपंजर को कल्पना से जिस रूप में खड़ा किया गया है, वह सजीव प्रतिमा का पर्याय है।

काल्पनिक अंश और उनका औचित्य

घटनाएँ : प्रस्तुत नाटक में निम्नलिखित घटनाएँ कल्पना-प्रसूत हैं—ध्रुवस्वामिनी पर गुप्त नियन्त्रण ; कुबड़े-बौने-हिजड़े का खेल ; ध्रुवस्वामिनी द्वारा आत्महत्या का प्रयत्न व चन्द्रगुप्त का बचाना ; दोनों में परस्पर स्नेह का प्रकट होना ; दोनों का इकट्ठे शक-शिविर में जाना ; शकराज-कोमा का प्रेम-प्रसंग ; मद्यपान व शक-सामन्तों का झगड़ना ; मिहिरदेव व धूमकेतु के द्वारा शकराज का संकट में पड़ना ; शक-दुर्ग में ध्रुवस्वामिनी और पुरोहित का वाद-विवाद ; कोमा द्वारा शकराज का शव लेने आना; कोमा व मिहिरदेव का वध ; चन्द्रगुप्त का श्रृंखलाबद्ध होना और मुक्ति ; पुरोहित व परिषद् का रामगुप्त के विरुद्ध निर्णय तथा रामगुप्त के द्वेषपूर्ण व्यवहार के कारण उस पर प्रहार।

इन प्रसंगों की अवतारणा के द्वारा लेखक ने प्राप्त तथ्यों के बीच छूटे हुए अंगों को पूरा किया है। इस प्रयत्न में उसने अपना उद्देश्य भी सिद्ध किया है। ध्रुवस्वामिनी को बन्दिनी बनाकर रखने से उनके कटु दाम्पत्य जीवन की झाँकी और अन्त में मोक्ष-प्राप्ति का औचित्य सिद्ध करने की पृष्ठभूमि बनती है। कुबड़े-बौने आदि के द्वारा रामगुप्त के शिविर के अगंभीर वातावरण की सृष्टि होती है। इसके साथ ही रामगुप्त के प्रति व्यंग्य उभरता है। इसी से चन्द्रगुप्त को स्त्री बनने की प्रेरणा मिलती है। पाठक रामगुप्त से घृणा कर सके, ऐसा संयोग उपस्थित हो गया है। ध्रुवस्वामिनी को जड़ उपहार की वस्तु बनाकर दिये जाने का षड्यंत्र रामगुप्त व शिखरस्वामी के कालुष्य को प्रकट कर देता है। संघर्ष का सूत्रपात ध्रुवस्वामिनी की बन्दिनी दशा से हो गया था। यहाँ आकर ध्रुवस्वामिनी का उग्र विरोध, आत्महत्या का प्रयत्न और चन्द्रगुप्त का आकस्मिक आगमन संघर्ष को तीव्रतर करते हैं। पाठक का कुतूहल भी बढ़ता जाता है। चन्द्रगुप्त का ध्रुवस्वामिनी के बदले भेजे जाने का प्रस्ताव और ध्रुवस्वामिनी का उसे पकड़ लेना इस प्रसंग में उल्लेखनीय घटना है। रामगुप्त और शिखरस्वामी उस समय अपनी चाल में सफल होते प्रतीत होते हैं जब चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों को शक-शिविर में भेजे जाने का निश्चय होता है। उधर संकटग्रस्त चन्द्रगुप्त की प्रेयसी ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के पास रहकर अप्रत्याशित परिस्थितियों में पुनः प्रताड़ित होने की अपेक्षा प्रेमी के साथ मृत्यु-मुख में जाने के लिए उद्यत है। यही वांछनीय भी था। इससे आगे चलकर शकराज को भ्रम में डालकर उसकी हत्या करने की भी सुविधा हो जाती है।

शकराज-कोमा का प्रेम-प्रसंग नारी की पुरुष के अधीन असहायावस्था का रंग गहरा करने के लिए लाया गया है। पुरुष की भोग-वृत्ति और स्वार्थ के लिए नारी को खिलौना बनाने की आदत पुरुष-शासित समाज पर लेखक के व्यंग्य की पृष्ठभूमि बनाती

है। मद्यपान व शक-सामन्तों के झगड़े के द्वारा लेखक ने रामगुप्त के समान शकों को विलासी व कायर सिद्ध करके राज्य का अनधिकारी बनाया है। धूमकेतु के द्वारा लेखक ने अपने उस विश्वास को प्रकट किया है जिसके अनुसार विरुद्धाचरण करने पर पुरुष प्रकृति द्वारा दण्डित होता है। 'कामायनी' में मनु इड़ा से बलात्कार करते समय शिव द्वारा इसी प्रकार दण्डित होता है। यह एक प्रकार से आधिदैविक भय का विधान है।

तीसरे अंक के प्रारम्भ में ध्रुवस्वामिनी व पुरोहित के वाद-विवाद में ध्रुवस्वामिनी के विवाह-मोक्ष का विधान करने का प्रयास है। कोमा का शकराज का शव लेने आना और ध्रुवस्वामिनी से वार्त्तालाप नारी के पुरुष द्वारा प्रताड़ित होने की चरम सीमा है। पाठकों में घृणा जगा सकने में लेखक सफल रहा है। फिर रामगुप्त के आदेश से कोमा की हत्या और रामगुप्त का बिना युद्ध ही विजय का आनन्द लेने चले आने से उसका चरित्र पर्याप्त घृणास्पद बन जाता है। चन्द्रगुप्त का शृंखलाबद्ध होना और आवेश में आकर शृंखलाएँ तोड़ना उसके चरित्रोद्घाटन, नाटक में अद्भुत-तत्त्व के समावेश और फल-प्राप्ति के निश्चय के लिए है। रामगुप्त का पूर्व आचरण चन्द्रगुप्त के लिए यह सब अनिवार्य बना देता है। इन परिस्थितियों में पुरोहित का आगमन शिखरस्वामी का रामगुप्त से आँखें फेरना, परिषद् का निर्णय आदि घटनाएँ रामगुप्त के द्वेषपूर्ण व्यवहार के लिए प्रेरक बनती हैं। तभी एक सामन्तकुमार का सामयिक प्रहार रामगुप्त का अन्त करता है और चन्द्रगुप्त को भ्रातृ-वध के कलंक से भी बचा लेता है।

घटनाओं का उपर्युक्त क्रम और संयोजन कथावस्तु को पर्याप्त उत्सुकता-वर्द्धक और संघर्षपूर्ण बना देता है। लेखक की कल्पना ने पहले की घटनाओं को सूच्य बनाकर घटनाओं की पृष्ठभूमि भी बनाई है, जैसे ध्रुवस्वामिनी का पालकी में चन्द्रगुप्त द्वारा लाया जाना, शिखरस्वामी और रामगुप्त के षड्यन्त्र से चन्द्रगुप्त को राज्यच्युत किया जाना, ध्रुवस्वामिनी के गुप्त-कुल में आने से पूर्व शकराज की वाग्दत्ता होना आदि घटनाओं की उद्भावना और वस्तु-विन्यास दोनों में लेखक की कल्पना द्रष्टव्य है।

पात्र : 'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी, कोमा, मिहिरदेव आदि प्रधान पात्र और खड्गधारिणी, हिजड़ा, बौना, कुबड़ा, खिंगल, पुरोहित, सामंतकुमार आदि गौण पात्र काल्पनिक हैं। ये सब नाटक की कथावस्तु में किसी न किसी रूप में उपयोगी हैं। मन्दाकिनी, कोमा और मिहिरदेव लेखक की प्रकृति के प्रतिनिधि हैं और उसके आदर्शों के प्रचारक हैं। शेष पात्र समस्या-प्रवेश, संघर्ष, समाधान और प्रधान पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए लाए गए हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी लेखक की कल्पना द्रष्टव्य है। ध्रुवस्वामिनी आधुनिक नारी-आन्दोलन का जागरूक प्रतिनिधित्व करती है। उसके स्वभाव की उग्रता लेखक की सृष्टि है। चन्द्रगुप्त का त्याग, क्षमा, सहनशीलता व आदर्शवाद तथा रामगुप्त का कुचक्री, मूर्ख व स्वार्थी होना काल्पनिक है। शिखरस्वामी का सारा चरित्र काल्पनिक है। शकराज का प्रेम, ध्रुवस्वामिनी से वाग्दान,

उसे प्राप्त करने का राजनीतिक उद्देश्य, धूमकेतु का भय आदि भी कल्पनाश्रित हैं। वस्तुतः, जैसाकि पीछे सिद्ध किया जा चुका है, प्रमुख घटनाएँ और प्रमुख पात्रों का स्थूल रूप या उनके नाम ही इतिहास-सम्मत हैं, शेष सर्वांग काल्पनिक है।

प्रस्तुत नाटक में तत्कालीन वातावरण इतिहासानुमोदित होने पर भी काल्पनिक है। शैली के सारे उपकरण भी लेखक की मनःसृष्टि हैं। इस प्रकार वस्तु के उपादानों और स्रोतों के अल्पज्ञात अथवा विवादग्रस्त होने पर भी लेखक की कल्पना ने इस नाटक में वास्तविकता का भ्रम पैदा कर दिया है।



काल-निरूपण

डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी

इतिहास, ऐतिहासिक नाटक और कल्पना-तत्त्व के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न कालों और भिन्न भिन्न देशों के विचारकों के तर्कों पर विचार करने पर इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि भरत से लेकर मुंशी तक सभी प्राच्य अथवा पाश्चात्य विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। परन्तु वस्तुत: यह मतभेद केवल बाहरी है और इस भेद में भी आन्तरिक समानता है। साधारण दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ विचारक इतिहास को महत्त्व देते हैं और कुछ कल्पना को। परन्तु एक बात सब स्वीकार करते हैं कि मूलत: ऐतिहासिक नाटक इतिहास न होकर साहित्य है। एक बार इस मौलिक एकता को स्वीकार कर लेने पर मतभेद में विशेष शक्ति नहीं रह जाती। इतिहास को स्वीकार ही न किया जाये ऐसा किसी विचारक ने नहीं कहा, क्योंकि इतिहास को ग्रहण किये बिना ऐतिहासिक नाटक का महत्त्व ही क्या रह जाएगा? यह भी किसी ने नहीं कहा कि कल्पना का समावेश नहीं होना चाहिए; क्योंकि कल्पना के बिना नाटक बन नहीं सकता। इतिहास में अनावश्यक परिवर्तन किया जाये, यह किसी की भी मान्यता नहीं रही। आवश्यकता पड़ने पर बिलकुल भी परिवर्तन न किया जाये, यह भी किसी ने नहीं माना। विश्रुत इतिहास के परिवर्तन को किसी ने भी उचित नहीं समझा। इन महत्त्वपूर्ण विषयों में सभी एकमत हैं। मतभेद की सम्भावना केवल एक बात में है कि इतिहास में कितना परिवर्तन किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास और कल्पना की नपी-तुली सीमाएँ नहीं बनाई जा सकतीं। कला अपने नियम स्वयं बनाती है। यह नियम कलाकृतिविशेष के लिए ही बनता है और फिर बदल जाता है।

जिस प्रकार घटनाओं और तिथियों को एक स्थान पर एकत्र कर देने मात्र से इतिहास नहीं बनता, उसी प्रकार इतिहास के कुछ पात्रों और कुछ घटनाओं को लेकर एक स्थान पर रख देने से ऐतिहासिक नाटक नहीं बनता। इसलिए कलात्मक होना ऐतिहासिक नाटक का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। नाटककार अपनी कल्पना से नाटक को ऐतिहासिक सम्भाव्यता प्रदान करता है और घटनाओं को देश और काल के सन्दर्भ में इस प्रकार सुयोजित करता है कि नाटक के रचना-तंत्र में देश, काल और प्रभाव का ऐक्य पुष्ट हो सके।

'ध्रुवस्वामिनी' की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है; किन्तु इस नाटक की मूल समस्या ऐतिहासिक न होकर सामाजिक है। इसमें जिन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है, उनके सम्बन्ध में न तो प्रसाद ने ही स्वयं कोई ऐतिहासिक काल-योजना निर्धारित की है और न इतिहासकार ही किसी अन्तिम निर्णय तक पहुँच सके हैं। प्रसाद ने सम्पूर्ण नाटक के सम्बन्ध में केवल श्री जायसवाल द्वारा मान्य

एक तिथि का उल्लेख किया है। उक्त तिथि का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त और शकराज के युद्ध से है।[1] किन्तु ३७४ ई० से लेकर ३८० ई० के बीच के समय को हम निश्चित तिथि नहीं मान सकते। यह समय इतना दीर्घ है कि सम्पूर्ण नाटक की घटना का काल भी इससे कम प्रतीत होता है। रामगुप्त के सम्बन्ध में साल्टोर ने कुछ निश्चित तिथियाँ दी हैं; उसका अनुमान है कि रामगुप्त ३७५ ई० में गुप्त-सिंहासन पर बैठा और उसने ३८० ई० तक शासन किया। मथुरा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ३८०-८१ ई० में सिंहासनासीन हुआ था। इतिहास की इस घटना के सम्बन्ध में प्राय: सभी इतिहासकार एकमत हैं।[2] केवल राधाकुमुद मुकर्जी चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की उचित तिथि ३७५ ई० मानते हैं।[3] कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि आज गुप्तकालीन इतिहास रामगुप्त के राज्य-काल को अस्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि इसके लिए पर्याप्त प्रमाण मिल चुके हैं। ऐसी स्थिति में ३७५ ई० से लेकर ३८० ई० तक का काल ही समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच का रह जाता है, जिसे हम सरलता से रामगुप्त का शासन-काल कह सकते हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की कालावधि

'ध्रुवस्वामिनी' तीन अंकों का नाटक है और प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है। सम्पूर्ण नाटक से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका घटना-काल बहुत कम है। नाटक की घटना रामगुप्त के राज्यकाल के अन्तिम दिनों की है। शकराज ने ध्रुवस्वामिनी की माँग की और वह चन्द्रगुप्त से पराजित हुआ। उस पराजय के ठीक बाद ही रामगुप्त की हत्या कर दी गई और चन्द्रगुप्त गुप्त-सिंहासन पर बैठा। अत: हम सम्पूर्ण नाटक की घटना को ३८० ई० की मान सकते हैं, क्योंकि एक तो यह रामगुप्त के शासन-काल का अन्तिम वर्ष है और दूसरे चन्द्रगुप्त के राज्यकाल का प्रथम वर्ष। जायसवाल ने शक-युद्ध की जो दो तिथियाँ मानी हैं उनमें से एक ३८० ई० भी है, अत: शक-युद्ध की तिथि भी यही मान लेने पर सब घटनाओं का काल समन्वित हो जाता है।

प्रथम अंक की काल-योजना

नाटक का प्रथम अंक संध्या-काल के कुछ ही पहले प्रारम्भ होता है। ध्रुवस्वामिनी और खड्गधारिणी के संवाद प्रारम्भ होने के कुछ ही देर बाद दासी सायंकाल हो जाने की सूचना देती है। सम्पूर्ण अंक में एक ही दृश्य होने के कारण अन्य सूचनाओं के अभाव में यही मानना उचित है। जिस संध्या-काल से घटना का प्रारम्भ होता है उसी रात्रि में सामन्त-कुमारों के साथ चन्द्रगुप्त शक-शिविर में चला गया होगा। सारे

१. ध्रुवस्वामिनी, सूचना, पृष्ठ ८।
२. (अ) रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ ऐनशिएंट इंडिया, पृष्ठ ४६५।
   (आ) ब्लाक : दि हिस्ट्री ऑफ़ नार्थ ईस्टर्न इंडिया, अध्याय ३-४।
३. मुकर्जी : दि गुप्त एम्पायर, पृष्ठ ४५।

अंक की घटना चार-पाँच घंटों की है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि प्रथम और द्वितीय अंक के बीच कितना अन्तर माना जाये ? प्रसाद के नाटक से तो इस सम्बन्ध में कुछ भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वस्तुतः इसका निर्णय इस बात पर निर्भर करता है कि शक-दुर्ग और रामगुप्त के पहाड़ी शिविर के बीच कितना अन्तर है ? प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में कोई भौगोलिक उल्लेख नहीं किया है। प्रथम अंक में रामगुप्त के कथन से एवं द्वितीय अंक में खिंगल के कथन से ज्ञात होता है कि रामगुप्त दिग्विजय के उद्देश्य से पार्वत्य प्रदेश में गया और वहाँ शकों ने उसे घेर लिया, अतः शक-दुर्ग एवं रामगुप्त-शिविर के बीच अधिक अन्तर सम्भव नहीं, विशेषकर जब दोनों में युद्ध चल रहा हो। इस तर्क को ध्यान में रखते हुए हम पहले और दूसरे दृश्य के बीच अधिक से अधिक एक दिन का अन्तर मान सकते हैं।

द्वितीय अंक की काल-योजना

दूसरा अंक भी संध्या का है—इस अंक के मध्य रात्रि के आगमन की सूचना से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस अंक की घटना भी संध्या के आसपास प्रारम्भ हुई है। पहले अंक में संध्या के समय खिंगल शकराज का सन्देश लेकर रामगुप्त के शिविर में उपस्थित है और सम्भवतः दूसरी ही संध्या को रामगुप्त का उत्तर लेकर शकराज के पास आ उपस्थित हुआ। नर्तकियों का गीत भी संध्या-काल की ही सूचना देता है। संध्या से लेकर रात्रि के आगमन की सूचना तक शकराज नृत्य और सुरापान का उत्सव मना रहा है। धूमकेतु का प्रसंग भी इस बात की पुष्टि करता है कि रात हो चुकी है। इसी रात्रि को स्त्रीवेशधारी चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को लेकर शक-दुर्ग में पहुँच जाता है और वहाँ शकराज का वध कर उसकी सेना का संहार करके रातोंरात शक-दुर्ग पर अधिकार कर लेता है। विशाखदत्त के अनुसार भी यह सारी घटना रात्रि की ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण अंक की घटना एक रात्रि की ही है।

तृतीय अंक की काल-योजना

दूसरे और तीसरे अंकों के बीच भी एक या दो दिन का ही अन्तर मानना पड़ेगा। शक-दुर्ग से विजय की सूचना लेकर सैनिक रामगुप्त के शिविर तक गए होंगे और रामगुप्त उक्त सूचना पाकर शक-दुर्ग में आया होगा। यदि एक ओर के मार्ग को तय करने में एक दिन का समय भी लगे तो यह माना जा सकता है कि दूसरे और तीसरे अंक के बीच लगभग दो दिन अथवा उससे कुछ कम समय का अन्तर है। किन्तु, ध्रुवस्वामिनी के एक प्रश्न का उत्तर थोड़ी-सी उलझन उत्पन्न करता है। ध्रुवस्वामिनी पूछती है : "कुमार के घाव अब कैसे हैं ?"[1] सैनिक उत्तर देता है : "घाव चिंताजनक नहीं हैं, उन पर पट्टियां बँध चुकी हैं। कुमार प्रधान-मण्डप में विश्राम कर रहे हैं।"[2]

१-२. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५२, ५२।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस संवाद द्वारा प्रसाद ने दूसरे और तीसरे अंक के बीच की घटना के अंतर को पाट दिया है। कुमार चन्द्रगुप्त ने रात्रि में युद्ध किया था। उस युद्ध में लगे घावों के सम्वन्ध में कुशल-प्रश्न युद्ध के शीघ्र बाद प्रातःकाल के लगभग ही पूछा जाना उचित है। उन घावों की परिचर्या युद्ध के ठीक बाद की गई होगी। तीसरा अंक सारा ही तीन-चार घण्टे से अधिक का नहीं है।

उक्त काल-योजना को स्वीकार करने पर समस्त नाटक का काल अधिक से अधिक चार दिन का माना जा सकता है। किन्तु, हम ऊपर 'ध्रुवस्वामिनी' के जिस संवाद का उल्लेख कर चुके हैं, उस पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। प्रसाद का यह नाटक रचना-तंत्र की दृष्टि से एकांकी नाटकों के रचना-तंत्र के अधिक समीप है। अत: यदि उस दृष्टि से नाटक की घटनाओं की गति को कुछ बढ़ा दें और उक्त संवाद के आधार पर स्थानों के अन्तर को कम से कम कर दें तो सम्पूर्ण नाटक का काल एक रात्रि और एक दिन का माना जा सकता है। प्रथम अंक सन्ध्या-काल का है। अब यदि प्रथम अंक की घटना-गति को बढ़ा दें तो उक्त अंक की सम्पूर्ण घटना दो घण्टे से भी कम में समाप्त हो जाती है। संध्या के आगमन के दो घंटे से भी कम समय के उपरान्त चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी शक-दुर्ग की ओर प्रयाण करते हैं और दुर्ग के द्वार वन्द होने के पूर्व वहाँ पहुँच जाते हैं। यदि यह मान लें कि दुर्ग का द्वार लगभग दस वजे वन्द किया जाता होगा, तो समस्या और भी सुलझ जाती है और पहले अंक की घटनाओं के साथ साथ वेश-परिवर्तन इत्यादि के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। खिगल शक-दुर्ग में ध्रुवस्वामिनी से पूर्व ही पहुँच गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुवस्वामिनी से कुछ पूछने के पूर्व ही रामगुप्त ने शिखर-स्वामी की मन्त्रणा से "दूत से साक्षात् करके उपस्थित राजनीति पर ध्यान"[1] दिया होगा और खिगल की शर्तें स्वीकार कर ली होंगी और उसी समय खिगल शक-दुर्ग के लिए रवाना हो गया होगा। उक्त घटना का काल प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही है। स्थान का अन्तर अधिक है ही नहीं, अतः खिगल तुरन्त ही वहाँ पहुँच गया होगा। ध्रुवस्वामिनी के आगमन की सूचना पाकर शकराज के दुर्ग में सन्ध्या को ही नृत्य-गीत का आयोजन हुआ होगा। ऐसी दशा में काल की दृष्टि से प्रथम अंक का उत्तरार्द्ध (रामगुप्त और शिखर-स्वामी के पहली वार प्रस्थान करने से लेकर अन्त तक) और दूसरे अंक का पूर्वार्द्ध (उत्सव-समारोह तक) दोनों समकालीन होंगे। दूसरे अक का उत्तरार्द्ध रात्रि में घटित हुआ है। तीसरा अंक युद्धोपरान्त प्रात.काल का है। उक्त अंकों को भी दो घंटे का मान लेने पर सम्पूर्ण नाटक का काल पहली सन्ध्या के ६ बजे से लेकर दूसरे दिन प्रातःकाल के १० बजे तक का माना जा सकता है।

वस्तुतः प्रसाद का यह अकेला ही नाटक है, जिसमें काल और स्थान की दृष्टि से घटना का सुन्दर समन्वय हुआ है।

●

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १८।

अतिप्राकृत तत्त्व की योजना

डॉ० कन्हैयालाल सहल

युग युग का जन-मानस इस बात को स्वीकार करता आया है कि अदृश्य नियति की क्रूर लीला मनुष्य के भाग्य को परिचालित करती है। उस क्रूर नियति का संकेत करने के लिए नाटक में अतिप्राकृत की योजना की जाती है। शेक्सपियर के नाटकों में यह अतिप्राकृत दो विभिन्न रूपों में प्रदर्शित हुआ है। अनेक समय वाह्य प्रकृति में विक्षोभ-परिकल्पनार्थ अतिप्राकृत का चित्रण हुआ है। नायक-नायिका के व्यक्तिगत जीवन से इसका सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि यह मानव-कल्पना के अधीन नहीं है। शेक्सपियर के 'जूलियस सीज़र' नाटक में आकाश से अग्नि-वृष्टि, क़ब्र के अन्दर से मृतकों का पुनरुत्थान आदि वियोगान्त नाटक के वातावरण की सृष्टि करने में सहायक होते हैं। 'मैकबेथ' के प्रथम दृश्यों में डाकिनियों की इङ्गितपूर्ण कथावार्त्ता तथा तरु-लता-हीन विस्तीर्ण मृत्युमय प्रान्तर-परिकल्पना में भी इसी रहस्य का प्रस्फुटन हुआ है। नाट्यकार इसके द्वारा वियोगान्त नाटक के सकरुण घनान्धकार को और भी तीव्रतर कर देता है।

अनागत घटना के पूर्वाभास के रूप में भी अतिप्राकृत का प्रयोग शेक्सपियर के नाटकों में हुआ है। 'जूलियस सीज़र' में कैलपूर्निया के स्वप्न द्वारा भावी घटना का पूर्वाभास स्पष्ट देखा जा सकता है। नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व के समावेश का प्रधान उद्देश्य नाटकीय कथावस्तु की व्याख्या तथा सूचना है। प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में धूमकेतु के प्रसंग को लेकर अतिप्राकृत तत्त्व का समावेश हुआ है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित संवाद को लीजिये:

"मिहिरदेव: (ऊबकर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती? वह देख, नील लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है।"[1]

"कोमा: (धूमकेतु को दिखाकर) उन्होंने मुझसे कहा है कि तुम्हारे दुर्ग में रहने से अमंगल होगा।

शकराज: (भयभीत होकर उसे देखता हुआ) ओह! भयावनी पूंछवाला धूमकेतु! आकाश का उच्छृङ्खल पर्यटक! नक्षत्र लोक का अभिशाप! कोमा! आचार्य को बुलाओ। वे जो आदेश देंगे, वही मैं करूंगा। इस अमंगल की शान्ति होनी चाहिये।"[2]

धूमकेतु के सम्बन्ध में अनेक विश्वास लोगों में प्रचलित हैं। पिछले दिनों जब पुच्छल तारा दिखाई पड़ा तो उस समय अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गये।

१-२. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ४५, ४६।

'रामचरितमानस' की निम्नलिखित अर्द्धाली से भी यह जान पड़ता है कि धूमकेतु चिरकाल से लोगों के भय का कारण रहा है :

"कह प्रभु हँसि जनि हृदय डराहू।
लूक न असनि केतु नहिं राहू ।।"

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक जान पड़ता है। फलित ज्योतिष में धूमकेतु के उदय का जो शुभाशुभ फल बतलाया गया है इसको हम चाहे मानें या न मानें पर जब कोई नाट्यकार अनागत घटनाओं के पूर्वाभास के रूप में नाटकीय कौशल का आश्रय ले धूमकेतु का दृश्य दिखलाता है तब दर्शक या पाठक को अनागत घटना का पूर्वाभास अवश्य मिल जाता है। उक्त प्रसंग में शकराज की मृत्यु धूमकेतु के अनिष्टकारी प्रभाव के कारण हुई हो या न हुई हो, पर पाठक यह अवश्य पहले ही जान लेते हैं कि शकराज का अनिष्ट होनेवाला है।

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना यह भी अप्रासंगिक न होगा कि नाटककार जब अलौकिक तत्त्व का समावेश करता है तो इससे यह निष्कर्ष निकालना कि यह उसका व्यक्तिगत मत या सिद्धान्त है, उचित न होगा। शेक्सपियर ने 'हेमलेट' में भूत का दृश्य दिखलाया है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शेक्सपियर भूतों में विश्वास करता था। किसी नाट्यकार का अलौकिक तत्त्व में विश्वास चाहे हो भी, पर केवल नाटकीय कौशल के रूप में प्रयुक्त अलौकिक तत्त्व से वैसा कोई अनिवार्य निष्कर्ष हम नहीं निकाल सकते। तत्कालीन लोक-मानस का परिचय देने के लिए भी नाटककार अपने नाटकों में अलौकिक की अवतारणा करते रहे हैं। नियतिवाद नाट्यकार के स्वभाव का अंग जान पड़ता है। बहुत संभव है इस प्रकार के अतिप्राकृत विधान में प्रसाद का विश्वास भी रहा हो, किंतु उनको अतिप्राकृतवादी समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि नाटकीय कौशल के रूप में अतिप्राकृत का प्रयोग जहाँ चित्त को चमत्कृत करता है, वहाँ वह नाटक के करुण रस को भी तीव्रतर बना देता है।

आगे चलकर स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी जब शकराज के पास पहुँचते हैं, उस समय नाटककार ने अतिप्राकृत तत्त्व का बड़ा कुशल प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित संवादों को लीजिए :

(i) "चन्द्रगुप्त : जी नहीं, यह नहीं हो सकता। ध्रुवस्वामिनी कौन है, पहले इसका निर्णय होना चाहिये।

ध्रुवस्वामिनी : (क्रोध से) चन्द्रे ! मेरे भाग्य के आकाश में धूमकेतु-सी अपनी गति बन्द करो।"

(ii) "शकराज : (धूमकेतु की ओर देखकर भयभीत-सा) भयानक ! (व्यग्र भाव से टहलने लगता है।)"[1]

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ४६ ।

पाठक जानते हैं कि चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी को धूमकेतु के प्रसंग का कोई ज्ञान नहीं है। अनजान में ही ध्रुवस्वामिनी के मुख से निकल पड़ता है: "मेरे भाग्य के आकाश में धूमकेतु-सी अपनी गति बन्द करो।" किन्तु, ध्रुवस्वामिनी के मुख से निकलते हुए 'धूमकेतु' शब्द द्वारा शकराज भयभीत हो उठता है और आगे चलकर तो यहाँ तक कहने लगता है: "आचार्य ने ठीक कहा है, आज शुभ मुहूर्त नहीं। मैं कल विश्वसनीय व्यक्ति को बुलाकर इसका निश्चय कर लूँगा। आज तुम लोग विश्राम करो।"[1]

ध्रुवस्वामिनी के मुख से 'धूमकेतु' शब्द का प्रयोग नाटकीय व्यंग्य (ड्रामेटिक आयरनी) का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है और नाटकीय व्यंग्य एक प्रकार का नाटकीय कौशल ही तो है। शकराज-वध की पृष्ठभूमिका के रूप में 'धूमकेतु' शब्द के प्रयोग द्वारा शकराज के मन को भयभीत और विक्षुब्ध बना देना नाटक में एक बहुत ही उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में नाटकीय कौशल के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' के अलौकिक तत्त्व के सम्बन्ध में एक बात और कही जायेगी। कोमा के निश्छल प्रेम को ठुकरानेवाले शकराज के वध द्वारा काव्य-न्याय का निर्वाह हो जाता है, यह हम स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु, रह रहकर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि कोमा और मिहिरदेव का निर्मम वध किस न्याय से हुआ? जो मिहिरदेव शकराज को धूमकेतु दिखलाकर उसके लिए आशङ्का, भय और अनिष्ट की मूर्ति खड़ी कर रहे थे, न वे मिहिरदेव ही रहे और न उनकी पालिता कोमा ही! ये दोनों निरीह प्राणी भी नियति के क्रूर चक्र द्वारा पीस दिये गये। क्या सचमुच कोई ऐसी अदृश्य शक्ति है जिसके अंगुलि-निदेश से संसार का कार्य चलता है?

नाट्यकार द्वारा कोमा और मिहिरदेव को संसार से विदा कर देना उचित हुआ या अनुचित इस प्रश्न पर यहाँ जान-बूझकर ही विचार नहीं किया गया है, यहाँ तो 'ध्रुवस्वामिनी' का अतिप्राकृत तत्त्व ही लेखक का विवेच्य विषय रहा है।

●

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ४६।

समस्याएँ

डॉ० उर्मिला गुप्ता

साहित्य समाज का प्रतिविम्व होता है। उस पर समाज की राजनीतिक, सामाजिक आदि अवस्थाओं और उनसे सम्वद्ध समस्याओं का स्वाभाविक प्रभाव पड़ता है। प्रसाद ने भी एक युगचेता साहित्यकार के रूप में 'ध्रुवस्वामिनी' में कई समस्याओं को स्थान दिया है। इस नाटक में उन्होंने मुख्य रूप से दो समस्याओं पर विचार किया है, जो नारी के विवाह-मोक्ष और राज्याधिकार से सम्वन्धित हैं। वैसे, ये समस्याएँ ऐतिहासिक परिपार्श्व में मूलतः प्रसाद के युग से सम्बद्ध हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पाश्चात्य सभ्यता और भारतीय पुनर्जागरण की भावना के फलस्वरूप नारी-समाज में स्वतन्त्रता की भावना का उदय होने लगा था। प्रसाद के युग में नारी पुरुष वर्ग के अत्याचारों के विरुद्ध जागरूक होने लगी थी। महादेवी की 'शृंखला की कड़ियाँ' शीर्षक कृति को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। दूसरी ओर देश में एक नई जागृति और राष्ट्रीय भावना के प्रसार के फलस्वरूप जनता उन रियासतों के राजाओं को सत्ता से अपदस्थ करने के लिए कटिवद्ध थी जो राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने में असमर्थ थे और अंग्रेज़ों के हाथ की कठपुतली मात्र थे। उक्त दोनों युगीन समस्याओं की शाश्वतता सिद्ध करने के लिए प्रसाद ने ऐतिहासिक कथावस्तु का आश्रय लिया है। समुद्रगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में रामगुप्त के सम्बन्ध में आधुनिक अनुसंधान के फलस्वरूप यह प्रमाण मिलता है कि वह दुर्वल शासक था, जिसके कारण उसे राजगद्दी से उतार दिया गया था अथवा उसकी हत्या की गई थी। इस घटना के फलस्वरूप उसकी पत्नी ध्रुवस्वामिनी ने भी पुनर्विवाह कर लिया था। नाटक में आद्यन्त उक्त दो समस्याओं की प्रमुखता पाकर यह जिज्ञासा होती है कि कहीं 'ध्रुवस्वामिनी' समस्या-नाटक तो नहीं है? अभिप्राय यह है कि कहीं नाटककार ने समस्याओं के चित्रण में नाटक के अन्य तत्त्वों की उपेक्षा तो नहीं कर दी है? प्रस्तुत कृति के अध्ययन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि इसमें समस्या-निरूपण कथावस्तु के साथ घुलमिल गया है। समस्याओं के समावेश से नाटक की रोचकता में वाधा नहीं पहुँची है, अपितु वह अधिक स्वाभाविक और सम्प्रेषणीय वन सका है।

विवाह-मोक्ष की समस्या

इस समस्या के अन्तर्गत नाटककार ने मुख्यतः इन प्रश्नों पर विचार किया है कि नारी का समाज में क्या स्थान है, यदि वह पति से संरक्षण नहीं पाती तो उसे कौन-सा मार्ग अपनाना चाहिए, उसका पुनर्विवाह सम्भव है या नहीं आदि। प्रारम्भ में ही हम ध्रुवस्वामिनी को एक विचित्र परिस्थिति में पाते हैं—वह जिस पुरुष से प्रेम करती

है, उससे विवाह नहीं कर पाती और जिससे उसका विवाह हुआ है, उससे वह प्रेम नहीं करती। रामगुप्त उसे अपनी सत्ता के प्रभाव से चन्द्रगुप्त से छीन लेता है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता होने पर भी उसे रामगुप्त की महादेवी बनने को बाध्य किया जाता है। इस पर भी स्थिति यह है कि रामगुप्त उस पर शंका करता है और उसका तथा चन्द्रगुप्त का भेद जानने की टोह में रहता है। इस समस्या का सूत्रपात नाटक के आरम्भ में ही हो जाता है, जब ध्रुवस्वामिनी अपने वैवाहिक जीवन पर शंका प्रकट करते हुए कहती है : "उस दिन राजमहापुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था, क्या वह अभिशाप था ?"[१] रामगुप्त से उसका विवाह धार्मिक रीति से तो हो गया, किन्तु उसके प्रति रामगुप्त का व्यवहार पति के अनुरूप न होकर प्रायः सर्वत्र एक कठोर शासक के समान ही रहा। ध्रुवस्वामिनी ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि उसे तो कभी अपने पति से मधुर सम्भाषण का भी अवसर नहीं मिला। एक अन्य विडम्बना यह है कि रामगुप्त उसकी उपेक्षा करके विलास में निमग्न रहा अथवा अपने स्वार्थ-चक्र में लिप्त रहा।

प्रस्तुत नाटक में विवाह-मोक्ष की समस्या उस समय और भी प्रबल हो उठती है जब रामगुप्त विवाह की धार्मिक क्रिया को ही अस्वीकार कर देता है : "मैं तो उस दिन द्राक्षासव-सर में डुबकी लगा रहा था। पुरोहितों ने न जाने क्या क्या पढ़ा दिया होगा। उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर कदापि नहीं।"[२] यही नहीं, रामगुप्त उसे शकराज के पास भेंटस्वरूप भेजना चाहता है। यह ध्रुवस्वामिनी के भाग्य की कितनी बड़ी विडम्बना है कि पति के जीवित होते हुए भी वह न केवल उपेक्षिता है, अपितु शकराज का आक्रमण होने पर उसका सतीत्व भी अरक्षित हो गया। उसने निर्भीक होकर इसका स्पष्ट विरोध किया : 'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते,······नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नही सकते हो।"[३] ध्रुवस्वामिनी के मन में आत्मसम्मान की यह भावना जब प्रबल हो उठती है और वह रामगुप्त के अत्याचारों और शिखर-स्वामी की सहमति का विरोध करने के लिए तत्पर हो उठती है, तभी विवाह-मोक्ष की समस्या प्रत्यक्ष और प्रखर रूप में हमारे सम्मुख आती है। इसके पूर्व वह अपने पूर्व-विवाह को ही सफल बनाने के लिए रामगुप्त से प्रार्थना करती है और अपने स्त्रीत्व, सौन्दर्य और कुल-गौरव की दुहाई देकर किसी भी प्रकार अपने पति के मन में क्षत्रियत्व का उद्रेक करने के लिए प्रयत्नशील रहती है, किन्तु जब उसे सब ओर से निराशा ही प्राप्त हुई तो उसके मन में इस विवाह से मुक्त होने की इच्छा बलवती हो उठी और उसका नारीत्व जाग उठा। छिन्नमस्ता का अवतार बनकर अपनी रक्षा के लिए वह स्वयं उद्यत हुई।

उपर्युक्त सन्दर्भ में ही चन्द्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी से वार्तालाप करते हुए उसके

१-२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १४, १४, २६।

प्रति अपने प्रेम-भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है : "मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया कि······।"[1] चन्द्रगुप्त की इस भावपूर्ण उक्ति से ध्रुवस्वामिनी क्रमशः उसके प्रति आसक्त होती गई और जब वह उसके स्थान पर स्वयं शक-शिविर में जाने के लिए उद्यत हुआ तो आवेश मे उसका स्पर्श करके ध्रुवस्वामिनी ने मानो सबके सामने उसके प्रेम को प्रत्यक्ष स्वीकृति दे दी। रामगुप्त के व्यंग्य करने पर उसने स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया : "आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिलाकर मेरा निर्लज्ज जीवन बढ़ाने के लिए तत्पर है।"[2] इस प्रकार यहाँ समस्या ने एक नवीन मोड ले लिया है। अभी तक रामगुप्त की कायरता के कारण केवल विवाह-मोक्ष की समस्या ही प्रमुख थी, किन्तु चन्द्रगुप्त के प्रणय-भाव के व्यक्त हो जाने पर पुनर्लग्न की समस्या भी इसके साथ सम्बद्ध हो गई। इन दोनों के विषय में शास्त्र का क्या मत है, इस तथ्य को प्रस्तुत करने का दायित्व भी नाटककार पर इस स्थल पर आ गया है। समस्या का समाधान इसलिए भी सरल हो जाता है कि दोनों एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त हैं। इसी भावना के साथ छद्मवेषी चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी ने शक-शिविर में प्रवेश किया था। दोनों ही प्रसन्न थे, क्योंकि जहाँ ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त के मोक्ष की आशा हो गई थी वहाँ चन्द्रगुप्त को भी ध्रुवस्वामिनी के प्राप्त होने की आशा हो गई थी। चन्द्रगुप्त ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर शकराज को परास्त करके मार दिया और दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इस घटना के फलस्वरूप उन दोनो का प्रेम भी क्रमशः दृढ होता गया और उनके मन में एक दूसरे के प्रति बलिदान, विश्वास तथा निश्छल स्नेह की भावना उद्दीप्त हो उठी। वस्तुतः ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त की ही वाग्दत्ता थी, किन्तु पारिवारिक कलह से बचने के लिए चन्द्रगुप्त ने उससे विवाह का आग्रह नही किया था। किन्तु जब रामगुप्त ने, जो अपनी पत्नी को किसी अन्य की अंकशायिनी बनने के लिए भेजने में भी संकुचित नही हुआ था, ध्रुवस्वामिनी और उसके द्वारा विजित दुर्ग पर पुनः अधिकार करना चाहा तो उसका रक्त खौल उठा और वह ध्रुवस्वामिनी का पाणिग्रहण करने को तत्पर हो उठा।

उपर्युक्त सन्दर्भ मे यह आवश्यक था कि विवाह-मोक्ष और पुनर्लग्न के लिए शास्त्र की अनुमति प्राप्त कर ली जाये। दूसरे शब्दों में, प्रसाद समस्या का शास्त्रोचित समाधान प्रस्तुत करना चाहते थे। इसीलिए तृतीय अंक में पुरोहित से वार्त्तालाप करते हुए ध्रुवस्वामिनी द्वारा समस्या को इन शब्दों मे व्यक्त कराया गया है : "इतना बड़ा उपहास—धर्म के नाम पर स्त्री की आज्ञाकारिता की यह पैशाचिक परीक्षा मुझसे बलपूर्वक ली गई है। पुरोहित! तुमने जो मेरा राक्षस-विवाह कराया, उसका उत्सव भी कितना सुन्दर है। यह जन-संहार देखो।"[3] पुरोहित के प्रति मन्दाकिनी की निम्नलिखित उक्ति भी इसी भाव से सम्बद्ध है : "जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँधकर, उनकी

१-२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३०, ३३, ५३।

सम्मति के विना आप उनका सब अधिकार छीन लेते है तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार—कोई संरक्षण नहीं छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें ? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रखने की आज्ञा देकर विश्राम ले लेते है ?"[1] इन संवादों में नारी-जीवन की रूढ़ियों पर प्रहार करते हुए नवजागरण की भूमिका प्रस्तुत की गई है । ध्रुवस्वामिनी और मन्दाकिनी ने इस दिशा में जिस दृढ़ता का परिचय दिया उसी का यह फल था कि परिस्थितियाँ उनके अनुकूल होती गई और पुरोहित ने अन्ततः यह स्वीकार कर लिया कि "स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है । यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है ।"[2] इस स्थल पर विवाह-मोक्ष की समस्या अपने चरम विन्दु पर पहुँच गई है और ध्रुवस्वामिनी तथा रामगुप्त का सम्बन्ध-विच्छेद कराने के लिए पुरोहित ने पुनः धर्मशास्त्र के पन्ने उलटकर अपनी दृढ़ता का संकेत दिया है । नाटक के अन्त में जब रामगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी पर अपनी सहधर्मिणी होने का दावा किया तब ध्रुवस्वामिनी ने इसका निर्णय धर्म पर छोड़कर मानो अपने पक्ष की सबलता में ही विश्वास प्रकट किया । इसका प्रमाण यह है कि विवाह और धर्म-शास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध मानकर पुरोहित ने यह निर्णय दिया : "विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है । धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नही किया जा सकता । माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नही सकते; परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है ।······यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज-किल्विषी क्लीव है । ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं ····मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।"[3] इस प्रकार शास्त्र के आश्रय से रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का सम्बन्ध-विच्छेद उचित ठहरता है तथा ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न के मार्ग की बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं । किन्तु, इस दिशा में एक बाधा अवश्य थी । प्रसाद के मन में पति के जीवित रहते पत्नी के पुनर्लग्न के प्रति संकोच प्रतीत होता है । रामगुप्त की हत्या के बाद पुनर्लग्न का रुद्ध मार्ग मानो स्वयं खुल गया ।

राज्याधिकारी की समस्या

प्रस्तुत नाटक में दूसरी प्रमुख समस्या राज्याधिकार से सम्बद्ध है कि यदि कोई राजा क्रूर, मद्यप, कायर और अकर्मण्य हो तो उसे राजगद्दी से हटाया जा सकता है अथवा नही ? इस सन्दर्भ में एक अन्य प्रश्न यह है कि उसे शासक-पद से हटाने का अधिकारी कौन हो सकता है ? रामगुप्त ने गुप्त-साम्राज्य पर कौशलपूर्वक अधिकार तो कर लिया, किन्तु उसकी रक्षा कर पाने की सामर्थ्य उसमें नहीं थी । इसीलिए शक-

---

१-२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५३, ५४, ६३ ।

आक्रमण का समाचार सुनकर भी उसका मन इसी चिन्ता में लीन रहा कि उसकी पत्नी उससे प्रेम नहीं करती। वह शकों का विरोध करने के स्थान पर अपने ही मित्र-बन्धुओं की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील रहा। युद्ध-परिषद् में युद्ध की समस्या पर विचार करने की अपेक्षा उसे हिजड़ों और बौनों का नृत्य अधिक आवश्यक और मोहक प्रतीत हुआ। शक-सन्धि की शर्तों में ध्रुवस्वामिनी और सामन्त स्त्रियों की माँग को सुनकर अपने क्षत्रिय-धर्म की पूर्ति की अपेक्षा वह शान्त भाव से कहता है : "ठीक ही है, जब उसके यहाँ सामन्त हैं, तब उन लोगों के लिए भी स्त्रियाँ चाहिएँ।"[१]

राजा का व्यक्तित्व और उसके कार्य प्रजा के लिए आदर्शस्वरूप और अनुकरणीय होने चाहिएँ, किन्तु रामगुप्त इतनी हीन प्रकृति का है कि वह प्रजा की अपेक्षा अपनी जीवन-रक्षा को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इस सम्बन्ध में उसकी यह उक्ति द्रष्टव्य है : "फिर भी अपने लिए मैं स्वयं कितना आवश्यक हूँ, कदाचित् तुम यह नहीं जानती हो।"[२]

जब रामगुप्त किसी भी भाँति कुल-लक्ष्मी की रक्षा के लिए तत्पर नहीं हुआ तब चन्द्रगुप्त प्राणों की बाजी लगाकर, ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए, शक-शिविर में गया और अपने पराक्रम तथा सूझबूझ से उसने शकराज का वध कर दिया। इस स्थल पर राज्याधिकारी की समस्या का प्रश्न प्रखर रूप में सम्मुख आता है। शक-शिविर पर यद्यपि चन्द्रगुप्त ने विजय प्राप्त की थी और इस कारण उस पर उसी का अधिकार था, किन्तु रामगुप्त विजयोपरांत उस पर अपना अधिकार प्रकट करना चाहता है। उसने कोमा और मिहिरदेव की अकारण हत्या कर दी। इससे सामन्त-कुमारों के मन में विद्रोह की भावना प्रबल हो उठी, जैसा कि एक सामन्त-कुमार की उक्ति से स्पष्ट है : "किन्तु अब वह असह्य है। राजसत्ता के अस्तित्व की घोषणा के लिए इतना भयंकर प्रदर्शन ! मैं तो कहूँगा, इस दुर्ग में आपकी आज्ञा के बिना राजा का आना अन्याय है।"[३] एक अन्य सामन्त-कुमार ने भी रामगुप्त के राज्याधिकार का विरोध करते हुए कहा : "मैं सच कहता हूँ, रामगुप्त-जैसे राजपद को कलुषित करनेवाले के लिए मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं। विजय का उत्साह दिखाने यहाँ वे किस मुँह से आए, जो हिंसक, पाखण्डी, क्षीब और क्लीब हैं।"[४] इस प्रकार सारी प्रजा रामगुप्त को गुप्त-कुल का कलंकागार घोषित कर देती है। रामगुप्त उन सबको बन्दी बनाकर अपना पद बनाए रखने का प्रयत्न करता है और चन्द्रगुप्त को भी बन्दी बना लेता है, किन्तु जब उसने ध्रुवस्वामिनी को भी बंदिनी बनाना चाहा तो चन्द्रगुप्त ने लौह-शृंखलाओं को शक्तिपूर्वक तोड़कर राज्य पर अपने अधिकार की घोषणा कर दी और कहा : "मैं भी आर्य समुद्रगुप्त का पुत्र हूँ। और शिखर-स्वामी तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं ही उनके द्वारा निर्वाचित युवराज भी हूँ। तुम्हारी नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ। यहाँ अब मैं ही

१-२-३-४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २५, २८, ५८, ५८।

शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी हूँ।"[1]

इस स्थान पर आकर प्रस्तुत समस्या ने चरम रूप धारण कर लिया जिसके निर्णयार्थ, शिखर-स्वामी के परामर्श से, परिषद् का आयोजन किया गया, किन्तु परिषद् ने भी एकस्वर से घोषणा की कि अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं। इस प्रकार कायर रामगुप्त के स्थान पर अन्त में वीर, विनयी और कर्मठ चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया गया, जो निश्चय ही समस्या का उचित समाधान था।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद ने समस्याओं को केवल यथार्थ रूप में ही प्रस्तुत नहीं किया, अपितु सुचिन्तित रूप में उनके समाधान भी आधुनिक विचार-भूमि के अनुकूल प्रस्तुत किये है। आज प्रजा को राजा चुनने का अधिकार है और नारी को विवाह-मोक्ष का। यहाँ यह जिज्ञासा व्यक्त की जा सकती है कि क्या प्रसाद द्वारा प्रस्तुत किए गए ये समाधान भारतीयता के अनुरूप है? इसका उत्तर स्वयं प्रसाद के शब्दों में निम्नलिखित है: "आज जितने सुधार या समाजशास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जाते हैं, उन्हें अचिन्तित और नवीन समझकर हम बहुत शीघ्र अभारतीय कह देते हैं, किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त्त ने समाज की दीर्घकालव्यापिनी परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधानों का परीक्षात्मक प्रयोग किया है।"[2] इस प्रकार समस्याओं के निरूपण और समाधान में आधुनिक दृष्टिकोण रखते हुए भी प्रसाद भारतीय संस्कृति को विस्मृत नहीं कर बैठे थे, इसीलिए उनके समाधान अधिक व्यावहारिक और उचित हैं।

प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' मे नाटकीय समस्या को प्रस्तुत करने में पूर्ण कौशल से काम लिया है। यह कौशल कथावस्तु में घटनाओं के संयोजन में ही नहीं, पात्र-योजना में भी प्रकट हुआ है। वस्तुतः प्रसाद के नाटकीय कथानक जितने इतिहास-सम्मत होते है, उतने उनके पात्र नहीं। नाटक के लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे उन्हें एक नवीन सांचे में ढाल देते हैं जिससे उनमें और उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। इसके अतिरिक्त वे प्रत्येक नाटक में अनेक काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि कर लेते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, शिखर-स्वामी, शकराज तथा मिहिरदेव का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है, किन्तु अन्य सभी पात्र—मन्दाकिनी, कोमा, सामन्त-कुमार, बौने, हिजड़े, पुरोहित—काल्पनिक हैं। वैसे, ये सभी कल्पना-प्रसूत पात्र नाटक में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। मन्दाकिनी प्रमुख पात्रों के बीच में कड़ी का काम करती है; कोमा में नारी का भावप्रवण श्रद्धास्पद व्यक्तित्व मुखर हो उठा है जो नाटक को एक करुण-मधुर टीस से पूरित करता हुआ प्रतीत होता है; रामगुप्त के विरुद्ध विद्रोहपूर्ण वातावरण के निर्माण के लिए सामन्त-कुमारों की सृष्टि

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ६०-६१।
२. ध्रुवस्वामिनी, सूचना, पृष्ठ ६।

अनिवार्य थी; चन्द्रगुप्त की अपेक्षा एक सामन्त-कुमार द्वारा रामगुप्त की हत्या कराके नाटककार ने चन्द्रगुप्त के गौरवमय चरित्र की रक्षा की है; बौने-हिजड़े रामगुप्त की क्लीवता को अनावृत्त करने में विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं; पुरोहित का चरित्र इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि विवाह-विच्छेद सम्बन्धी समस्या का धार्मिक समाधान खोजने में उसका अस्तित्व अनिवार्य था।

काल्पनिक पात्रों के अतिरिक्त ऐतिहासिक पात्रों के व्यक्तित्व में भी प्रसाद ने अनेक परिवर्तन किए हैं। उन्होंने रामगुप्त को आरम्भ से ही क्षीव, क्लीव एवं षड्यन्त्रकारी राजा के रूप में प्रस्तुत किया है, जबकि इतिहास में उसका उल्लेख एक वीर नरेश के रूप में हुआ है। ध्रुवस्वामिनी का स्वाभिमानपूर्ण, तथा परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में दुर्बलता से सबलता की ओर अग्रसर, गतिशील चरित्र भी प्रसाद की अपनी सृष्टि है। ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त भ्रातृस्नेह से प्रेरित होकर स्वेच्छा से रामगुप्त के लिए राज्य-त्याग करता है, किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में चन्द्रगुप्त शिखर-स्वामी तथा रामगुप्त के सम्मिलित षड्यन्त्र का शिकार होकर तथा कुल की मर्यादा के भय से मौन रहकर राज्य-त्याग के लिए विवश होता है। संजान के ताम्रपत्र में उल्लिखित नायक की भाँति वह अपने अग्रज का वध नहीं करता, अपितु प्रसाद ने एक सामन्त-कुमार से यह अप्रिय कार्य सम्पन्न कराके चन्द्रगुप्त के गौरव की रक्षा कर ली है।

विवाह-मोक्ष और पुनर्लग्न की समस्या—जो भारतीय समाज की एक बहु-कालिक सामाजिक समस्या रही है—'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की केन्द्रीय समस्या है। उसका समाधान प्रस्तुत करते समय नाट्यकार ने पुरोहित की कल्पना द्वारा धार्मिक तथ्यों को साक्षी-रूप में प्रस्तुत किया है। प्राचीन काल में भारतीय समाज में धार्मिक मान्यताएँ ही सर्वाधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध होती थीं। यही कारण है कि प्रसाद ने धर्म और समाज का युगानुरूप सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद को उचित ठहराया है और इस प्रकार इस प्रथा को सर्वथा भारतीय तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।

राजप्रासादों में हिजड़ों, बौनों आदि को सेवक के रूप में नियुक्त करना, विश्वस्त कार्यों के लिए खड्गधारिणी-जैसे चतुर कार्यकर्त्ताओं का प्रयोग करना, अविश्वास के कारण महादेवी ध्रुवस्वामिनी को पहरे में रखना, चारों ओर अविश्वास और सन्देह के वातावरण की सृष्टि करना आदि कृत्य भी समस्या को उभारने में सहायक हुए हैं। जहाँ तक राजनीतिक वातावरण का प्रश्न है, 'ध्रुवस्वामिनी' में निम्नलिखित परम्पराओं का उल्लेख हुआ है—१. राजा अपना उत्तराधिकारी स्वयं चुनते थे, किन्तु राजकलह अथवा ऐसी ही कोई अन्य समस्या उपस्थित होने पर अन्तिम निर्णय प्रजा-परिषद् के हाथ में था, जिसमें कुलवृद्ध और सामन्त होते थे; २. पराजित राजा विजेता राजा को प्रसन्न करने के लिए अपनी कन्या उपहार-रूप में प्रदान कर देता था; ३. स्वाभिमानी वीरों को अपने प्राणों से भी अधिक कुल-मर्यादा का ध्यान था, अतः मर्यादा की रक्षा के लिए वे सर्वस्व-त्याग में भी नहीं हिचकते थे।

'ध्रुवस्वामिनी' में राज्याधिकार की समस्या को जन्म देनेवाले अथवा उसका समाधान प्रस्तुत करनेवाले तत्त्व यही हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने ऐतिहासिकता की रक्षा करके भी कल्पना और समस्या का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है। इतिहास के भिन्न भिन्न पृष्ठों में विश्रृंखल कथा-माणिक्यों को कल्पना के एक सूत्र में पिरोकर उन्होंने निश्चय ही सफल ऐतिहासिक नाटक की रचना की है, जिसमें समस्याओं के चित्रण तथा युगानुरूप विचार-संयोजन की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया है।

समस्या-नाटक और 'ध्रुवस्वामिनी'

'ध्रुवस्वामिनी' में उपर्युक्त समस्याओं का समावेश होने पर भी उसे समस्या-नाटक की संज्ञा देने में विद्वानों ने मतभेद प्रकट किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में समस्या भी है और समाधान भी; किन्तु आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में, "प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में समस्या है अवश्य, किंतु वह नाटक समस्या-नाटक नहीं है। समस्या-नाटक का बौद्धिक होना पहली शर्त है और नाटक की सारी विचारधारा किसी एक समस्या को केन्द्र बनाकर चलती है। समस्या-नाटककार विशुद्ध दार्शनिक या विचारक कलाकार हुआ करता है। प्रसाद जी विचारक कलाकार के रूप में उपस्थित नहीं हुए हैं।"[१] इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रसाद ने जो समस्याएँ उठाई हैं उनका प्रस्तुतीकरण ऐसा नहीं है कि 'ध्रुवस्वामिनी' को इब्सन, बर्नार्ड शॉ और गाल्सवर्दी के समस्या-नाटकों की पंक्ति में रखा जा सके। वस्तुतः उसे आधुनिक ढंग का समस्या-नाटक नहीं कहा जा सकता। आधुनिक समस्या-नाटक बौद्धिक विवाद और समस्या-निरूपण का आधार लेकर चलता है, किन्तु प्रसाद ने कथानक और चरित्र-योजना की दृष्टि से समस्या को इस रूप में नहीं उभारा है। इतिहास के प्रति अनुराग, व्यक्तित्व की भावुकता और भारतीय आदर्शों के प्रति निष्ठा-भाव प्रसाद के नाटककार-व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ हैं, जो उन्हें समस्या-नाटककार से पृथक् करती हैं।

१. जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ १७०।

पात्र-परिकल्पना

डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

नाटककार के लिए कथावस्तु की भाँति चरित्र-शिल्प की विशिष्टता भी आवश्यक होती है। कथावस्तु के संगठन और विकास के लिए ही नहीं, संवादों और लेखक की विचारधारा को व्यक्त करने के लिए भी पात्र की कल्पना अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। चरित्र-शिल्प का वास्तविक उद्देश्य मानवीय चरित्रों की सर्जना है। प्रसाद के नाटकों में चरित्रों की सर्जना कुछ निश्चित आधारों पर हुई प्रतीत होती है, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र की निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट है: "प्रसाद के सभी नाटक चरित्रप्रधान हैं और स्वयं प्रसाद के व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने उनके पात्रों की रूपरेखा को इतना तीखा कर दिया है कि एक प्रकार से स्वयं स्रष्टा अपने को अपनी सृष्टि में अभिव्यक्त हुआ दिखाई देता है।"[1] उनके अनुसार प्रसाद के पुरुष पात्र यदि जीवन के तत्त्वों को सुलझानेवाले तत्त्ववेत्ता आचार्य, जीवन-संग्राम में जूझनेवाले कर्मठ सैनिक और राजपुत्रों को राजनीति के दाँव-पेंच सिखानेवाले कूटनीतिज्ञ हैं तो स्त्री पात्राएँ राजनीति की आग से खेलनेवाली, जीवन-भँवर में चक्कर काटनेवाली तथा अपने बलिदान से कोमल-करुण गंध छोड़ जानेवाली हैं।[2] 'ध्रुवस्वामिनी' के पुरुष और स्त्री पात्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। यह बात दूसरी है कि आकार में लघु होने पर भी पात्रों का सम्यक् चरित्र-विस्तार इस कृति में नहीं हो पाया। किन्तु, प्रमुख पात्रों की भाँति ही धूमिल रेखाओं से अंकित इसके कई गौण पात्र भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लिये हुए दिखाई देते हैं। यह ठीक है कि प्रसाद उन पात्रों को उभार नहीं सके, किन्तु फिर भी उनका चरित्र अपूर्ण नहीं प्रतीत होता। अभिप्राय यह है कि रामगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी-जैसे मुख्य पात्रों की भाँति मिहिरदेव, कोमा, मंदाकिनी आदि साधारण पात्र भी सहृदय के मन पर विशिष्ट प्रभाव डालते हैं। ये चरित्र जीवन की सहज रेखाओं से निर्मित हैं, किन्तु इसके साथ ही ये इन्द्रधनुषी आभाओं से युक्त दिखाई देते हैं। कारण स्पष्ट है—प्रसाद ने इनके व्यक्तित्व के संयोजन में केवल इतिहासनिबद्ध तथ्यों को दृष्टि में नहीं रखा है, अपितु कल्पना के स्वाभाविक अन्तःप्रसार को भी इनमें सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। कुल मिलाकर छोटे-बड़े सभी पात्रों को देखकर ऐसा लगता है जैसे प्रसाद ने इन सभी को कथानक की सीमा में सुनियोजित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में इसीलिए न पात्र-बहुलता है, न कथानक का विस्तार। इसमें विभिन्न चरित्र इकाइयों के रूप में उठ खड़े हुए हैं और अपने अपने वर्ग में अपने मूल संस्कारों

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ ११-१२।

२. देखिए 'आधुनिक हिन्दी नाटक', पृष्ठ ११-१२।

और परिस्थितियों के बीच विकसित हुए हैं। विरोधी मनोवृत्तियों के पात्रों की योजना द्वारा चरित्र-चित्रण में संघर्ष और प्रभाव की सृष्टि करने की ओर भी प्रसाद सजग रहे हैं। यद्यपि ध्रुवस्वामिनी, मन्दाकिनी और कोमा के व्यक्तित्व की रेखाएँ सरल और समनुरूप हैं, किन्तु रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के चरित्र की विषमता नाटक में अत्यन्त स्पष्ट रही है। प्रस्तुत नाटक में प्रधान पात्रों ने संघर्ष की भूमिका प्रस्तुत करने में योग दिया है और गौण पात्र वातावरण की सृष्टि में सहायक रहे हैं। कोमा, मन्दाकिनी, मिहिरदेव, यहाँ तक कि कुबड़े-बौने आदि की चरित्र-योजना भी इसी दृष्टि के फलस्वरूप प्रभावशाली बन पड़ी है। 'ध्रुवस्वामिनी' के चरित्र-शिल्प की एक विशेषता यह है कि इसमें प्रसाद का चरित्र-चित्रण सर्वत्र आदर्शवाद से प्रभावित नहीं है। प्रायः प्रसाद के अन्य नाटकों में नायक को आदर्श रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त दोनों में से किसी को भी पूर्णतः आदर्श रूप में चित्रित नहीं किया गया है। वस्तुतः इस नाटक में प्रसाद का ध्यान आदर्श की अपेक्षा मानव-प्रकृति के वैशिष्ट्य पर अधिक रहा है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि 'ध्रुवस्वामिनी' उनकी विकसित नाट्यकला का परिणाम है।

चन्द्रगुप्त

प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में इतिहास-प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त (द्वितीय; विक्रमादित्य) को प्रमुख पात्र के रूप में चित्रित किया है। यह नायिकाप्रधान नाटक है; और यदि इसमें किसी पात्र को नायक का स्थान दिया जा सकता है तो केवल चन्द्रगुप्त को ही। यद्यपि नायिका का पति होने के नाते स्वभावतः रामगुप्त को नायक होना चाहिए था, किन्तु पति के कर्त्तव्य-कर्म से विमुख रहकर और कायरता आदि प्रवृत्तियों से युक्त होने के कारण वह नायक-पद के उपयुक्त प्रतीत नहीं होता और खलनायक बनकर रह गया है। दूसरी ओर चन्द्रगुप्त नायिका का प्रेमी है, जो अपने सद्गुणों और रामगुप्त के दुर्गुणों के कारण अन्त में उसके पति का स्थान ले लेता है। प्रेमी के रूप में भी वह सदा नायिका के अनुराग, श्रद्धा तथा आदर का पात्र रहा, जबकि रामगुप्त अपने कुकृत्यों द्वारा सदैव अपने प्रति उसकी घृणा को वर्द्धित करता है। ध्रुवस्वामिनी के प्रति खड्गधारिणी की उक्तियों तथा चन्द्रगुप्त के कतिपय स्वगतभाषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का विवाह-सम्बन्ध निश्चित हो चुका था तथा पिता की मृत्यु के उपरान्त गृह-कलह से बचने अथवा कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त ने राज्य के साथ साथ अपनी 'अमूल्य निधि' ध्रुवस्वामिनी को भी रामगुप्त के हाथों आने दिया था। इन सब कारणों से यह सिद्ध है कि रामगुप्त की अपेक्षा चन्द्रगुप्त प्रस्तुत नाटक के नायकत्व का अधिकारी है।

नाटककार ने चन्द्रगुप्त को शौर्य, औदार्य, निर्भीकता, विवेक आदि विभिन्न गुणों से समृद्ध दिखाया है। यहां यह ज्ञातव्य है कि प्रायः उसके सभी गुण उसकी मर्यादाप्रिय मनोवृत्ति से अनुप्रेरित रहे हैं। गुप्तवंश की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के प्रति उसका

आग्रह इतना प्रबल है कि रामगुप्त द्वारा अपने समस्त स्वत्वों से वंचित होकर भी वह कुल-मर्यादा को खण्डित न होने देने के लिए मौन रहता है। यह मर्यादाबद्धता अनेकशः उसके चरित्र का दोष बनकर प्रकट हुई है। उदाहरणस्वरूप अपने दूरदर्शी पिता द्वारा प्रदत्त राज्याधिकार को अपने अयोग्य अग्रज को समर्पित करके उसने एक ओर प्रजा के प्रति अन्याय किया तथा दूसरी ओर अपनी प्रेयसी और वाग्दत्ता को रामगुप्त की महादेवी बनने का अवसर देकर अपने और ध्रुवस्वामिनी के जीवन-पथ को कंटकाकीर्ण बना डाला। रामगुप्त की कुप्रवृत्तियों के प्रसार एवं उसके अनर्थकारी परिणामों ने एक दिन स्वयं चन्द्रगुप्त के सम्मुख व्यक्त कर दिया कि उदारता का परिचय देते हुए उसने जो भी त्याग किये थे, वे अनुचित थे। इसीलिए अन्ततः वह अनुतप्त होकर कह उठा : "मैं पुरुष हूँ? नहीं, मैं अपनी आँखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी नहीं रही। नहीं, यह शील का कपट, मोह और प्रवंचना है। मैं जो हूँ वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका। यह कैसी विडम्बना है! विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कब तक छिपा सकेगी।"[१]

वैसे, चन्द्रगुप्त में वीरता का अभाव नहीं है—खड्गधारिणी, ध्रुवस्वामिनी, मन्दाकिनी आदि पात्राओं ने अपने स्वगतभाषणों अथवा प्रत्यक्ष उक्तियों में अनेकशः उसके शौर्यपूर्ण व्यक्तित्व की स्फुट चर्चा की है। ध्रुवस्वामिनी के प्रति खड्गधारिणी की निम्नलिखित उक्ति इस विषय में उद्धरणीय है : "कुमार को इतने में ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है। रही अभ्युदय की बात, सो तो उनको अपने बाहु-बल और भाग्य पर ही विश्वास है।"[२] वीरता के अतिरिक्त धैर्य, विवेक आदि अन्य उत्कृष्ट गुण भी चन्द्रगुप्त में विद्यमान हैं। शकराज-वध जैसा दुष्कर कार्य उसके शौर्य और विवेक का ही परिणाम था। उसमें सहिष्णुता की मात्रा बहुत अधिक है। इसी कारण वह अपने प्रति होनेवाले अन्याय को मौन रहकर सहन करता रहता है, किन्तु अन्त में जब वह मर्यादा के मिथ्या मोह से मुक्त हो जाता है तभी उसका वास्तविक तेजस्वी व्यक्तित्व सम्मुख आ पाता है। इतना होने पर भी वह राज्य-लिप्सा अथवा किसी अन्य स्वार्थ से मुक्त है। इसी कारण शकराज-वध को अपने कर्त्तव्य की पूर्ति समझकर वह उक्त घटना के बाद वहाँ से चले जाना चाहता है। वस्तुतः घटना-क्रम में रामगुप्त ने जिन राजनीतिक छल-प्रपंचों एवं अत्याचारों की अति प्रकट की, उससे चन्द्रगुप्त को अत्यन्त क्षोभ हुआ और उसने लौह-शृंखलाओं को झटककर अपने को राज्याधिकारी घोषित कर दिया अन्यथा उसकी ओर से विरोध और मोह का भाव नाटक में सम्भवतः कहीं भी प्रकट न होता।

आन्तरिक गुणों के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त का बाह्य व्यक्तित्व भी मनोमुग्धकारी है; इसी कारण तो ध्रुवस्वामिनी खड्गधारिणी से कहती है : "कुमार की स्निग्ध,

१-२. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५७, १६।

सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है।"[1] चन्द्रगुप्त भी ध्रुवस्वामिनी से प्रेम करता है, किन्तु उसके प्रेम में गम्भीरता और संयम है। ध्रुवस्वामिनी भावावेश में कई वार उसके प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करती है, किन्तु चन्द्रगुप्त प्रायः अपने भावों को गम्भीरता के आवरण में छिपाये रहता है। नाटक के अन्तिम अंक में निम्नलिखित स्वगतोक्ति इसका प्रमाण है कि उसके मन में ध्रुवस्वामिनी के प्रति अनन्य अनुराग है, किन्तु मर्यादावद्ध आचरण के आग्रहवश वह अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं कर पाता : "विधान की स्याही का एक विन्दु गिरकर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है। मैं आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवदेवी मेरी है। (ठहरकर) हाँ, वह मेरी है, उसे मैंने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है। मेरे हृदय के गहन अन्तस्तल से निकली हुई यह मूक स्वीकृति आज बोल रही है।"[2]

'ध्रुवस्वामिनी' के पुरुष पात्रों में चन्द्रगुप्त का चरित्र सर्वाधिक गतिशील रहा है; यह दूसरी वात है कि उसका व्यक्तित्व आरम्भ में अन्तर्मुखी रहा और उसके ओज की अभिव्यक्ति नाटक के अन्त में ध्रुवस्वामिनी की प्रेरणावश ही हो पाई। साधारणतः पाठक के मन में यह प्रतिक्रिया हो सकती है कि आरम्भ से ही विचारक व्यक्तित्व न रखकर चन्द्रगुप्त को मुखर व्यक्तित्व का परिचय देना चाहिए था, किन्तु उक्त स्थिति में ध्रुवस्वामिनी के चरित्र को उतनी गरिमामयी अभिव्यक्ति नहीं मिल सकती थी। अतः इस सम्बन्ध में नाटककार की दृष्टि को ही प्रमाण मानना होगा। वैसे, यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि चन्द्रगुप्त ने आरम्भ में सक्रिय राजनीति में भाग नहीं लिया तथापि इस दिशा में उसके व्यक्तित्व की सम्भावनाएँ भलीभाँति स्पष्ट थीं। नाटक के सभी पात्रों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उसके व्यक्तित्व की शक्ति और प्रभाव को स्वीकार किया है; और यही कारण है कि नाटक के अन्त में उसे राज्यासन ग्रहण करते देखकर पाठक को सुखद सन्तोष का अनुभव होता है।

रामगुप्त

'ध्रुवस्वामिनी' के प्रमुख पात्रों में रामगुप्त का नाम भी गणनीय है। वह नाटक में प्रथम दृश्य से अन्तिम दृश्य तक उपस्थित रहता है और नायिका ध्रुवस्वामिनी से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है। उसके नृशंस और निष्ठुर कार्य नाटक के प्रमुख रस—वीर रस—को उद्बुद्ध और उद्दीप्त करते हैं और फलागम की सिद्धि में भी उसका पर्याप्त योगदान है, क्योंकि यदि उसके कार्यकलाप में वैसी असंगतियाँ न होतीं तो कथानक का इतिवृत्त कुछ और ही रहा होता। यद्यपि रामगुप्त को नाटक का खलनायक कहा जा सकता है, पर सही अर्थों में वह खलनायक भी नहीं है, क्योंकि दूसरों को हानि पहुँचाने से कहीं अधिक हानि वह स्वयं उठाता है। वस्तुतः उसका खल रूप

१-२. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १६, ५७।

उतना मुख्य नहीं है, जितनी उसकी दुर्वलताएँ प्रमुख हैं।

रामगुप्त के चरित्र की सर्वप्रमुख विशेपता उसकी राज्यलिप्सा है। राजकीय अधिकारों के उपभोग की उसकी आकांक्षा इतनी प्रवल है कि इसके लिए वह अपनी पत्नी को भी शकराज को उपहार में देने को प्रस्तुत हो जाता है। पिता समुद्रगुप्त द्वारा उत्तराधिकारी घोपित न किए जाने पर उसने शस्त्र-वल से राज्य छीना था। फनत: राजा वन जाने पर भी उसके मन में सदैव यह शंका वनी रही कि कहीं राज-कर्मचारी विद्रोह न कर वैठें। यथा : 'सहसा मेरे राजदण्ड ग्रहण कर लेने से पुरोहित, अमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ विद्रोह भाव रखते हैं।"[1] राज्याधिकारियों के अतिरिक्त अपने अनुज चन्द्रगुप्त और पत्नी ध्रुवस्वामिनी की ओर से विद्रोह की आशंका भी उसके मन में निरन्तर वनी रहती है। कारण स्पष्ट है—समुद्रगुप्त ने तो चन्द्रगुप्त को ही युवराज वनाया था और ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती थी। रामगुप्त की निम्नलिखित उक्ति में इसी आशंका के वीज निहित हैं : "नहीं, जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कव चोट कर वैठे? भीतर भीतर न जाने कितने कुचक्र घूमने लगेंगे।"[2] ध्रुवस्वामिनी विरोधी दल से मिलकर कहीं पड्यन्त्र न रच वैठे, इसी स्थिति के निवारण के लिए वह उसे और उसके प्रेमी चन्द्रगुप्त को शक-शिविर में जाने के लिए वाध्य करता है। राज्य की रक्षा की उसे इतनी चिन्ता है कि वह इसके लिए अपने मान-सम्मान को भी वेच देता है। सत्य तो यह है कि राज्य की रक्षा की वात भी केवल वहाना है; वस्तुत: उसे केवल अपने प्राण प्रिय हैं, जिनकी रक्षा वह राज्य-सुखोपभोग के लिए आवश्यक समझता है। उसकी विचारधारा केवल इसी वात पर केन्द्रित है कि किसी प्रकार भीतर और वाहर के सव शत्रु एक ही चाल में परास्त हो जाएँ। शकराज द्वारा ध्रुवस्वामिनी और अन्य सामन्त-पत्नियों की माँग प्रस्तुत करने पर वह इसका समर्थन करते हुए कहता है : "शक-दूत सन्धि के लिए जो प्रमाण चाहता हो, उसे अस्वीकार न करना चाहिए। ऐसा करने में इस संकट के वहाने जितनी विरोधी प्रकृति है, उन सवको हम लोग सहज में ही हटा सकेंगे।"[3]

रामगुप्त का व्यवहार सर्वत्र नृशंसता से पूर्ण है। कोमा और आचार्य मिहिरदेव की अकारण हत्या से उसकी हिंसक-वृत्ति का परिचय मिलता है। नाटक के अन्त में भी राज्य-परिपद् द्वारा निर्वासित किये जाने पर वह धोखे से चन्द्रगुप्त पर पीछे से वार करके उसकी हत्या कर देना चाहता है, क्योंकि उसके मार्ग की एकमात्र वाधा वही है। उसकी नृशंसता का इससे वड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि पहले तो उसने ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त और सामन्त-कुमारों को शक-शिविर में इस उद्देश्य से भेज दिया कि वे वहीं मारे जाएँ और राह के काँटे स्वयमेव दूर हो जाएँ, किन्तु शकराज के मारे जाने पर वह विजित भूमि और ध्रुवस्वामिनी पर अधिकार प्राप्त करने के लिए स्वयं पीछे से आ पहुँचा!

१-२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ, १८-१९, १८, १९।

रामगुप्त नृशंस ही नहीं, क्लीव भी है। जिस स्त्री के साथ उसका विवाह हुआ, उसी को किसी अन्य की अंकशायिनी बनने के लिए भेजने में उसे तनिक भी संकोच नहीं हुआ। शकराज के अपमानजनक प्रस्ताव का उत्तर तलवार से देने के बदले वह प्राणों के भय से अपने वैवाहिक बन्धन को ही अस्वीकार कर देता है : ''परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव-सर में डुबकी लगा रहा था। पुरोहितों ने न जाने क्या क्या पढ़ा दिया होगा। उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर ! कदापि नहीं।''[१] अपनी पत्नी को शकराज के पास भेजना वह एक साधारण-सी बात समझता है और "इस छोटी-सी बात के लिए इतना बड़ा उपद्रव"[२] देखकर उसे आश्चर्य होता है। उसके मत में पत्नी उपहार की जड़ वस्तु से अधिक महत्त्व नहीं रखती। ध्रुवस्वामिनी जब आत्महत्या करने को उद्यत होती है तो वह उसे इसलिये नहीं रोकता कि वह उसकी पत्नी है, अपितु इसलिए रोकता है कि उसकी मृत्यु के उपरान्त शकराज के पास किसे भेजा जाएगा ? किन्तु, इसके साथ ही चन्द्रगुप्त को लेकर उस पर लांछन लगाना भी वह नहीं भूलता : "तुम्हारा पर-पुरुष में अनुरक्त हृदय अत्यन्त कलुषित हो गया है। तुम काल-सर्पिणी-सी स्त्री !"[३]

खलनायक रामगुप्त स्वाभिमान-रहित होने के साथ साथ असफल शासक भी है। उसने मंत्री शिखर-स्वामी की सहायता से दिग्विजयी समुद्रगुप्त के राज्य पर ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते अधिकार अवश्य प्राप्त किया, किन्तु उस राज्य को स्थिर रखने की सामर्थ्य उसमें नहीं थी। राजा के मन में प्रजा के प्रति जो प्रेम-भाव होना चाहिए, उसका उसमें सर्वथा अभाव था। शिखर-स्वामी के अतिरिक्त सभी राज्याधिकारी उससे असन्तुष्ट थे। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्त द्वारा विजित शक-शिविर में रामगुप्त द्वारा आदेश देने को उचित न मानकर एक सामन्त-कुमार ने स्पष्ट कहा था : "मैं सच कहता हूँ, रामगुप्त-जैसे राजपद को कलुषित करनेवाले के लिए मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं। विजय का उत्साह दिखाने यहाँ वे किस मुँह से आए, जो हिंसक, पाखंडी, क्षीव और क्लीव हैं।''[४] मन्दाकिनी, चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी आदि सभी की दृष्टि में वह क्लीव है। राज्य-शासन के सर्वथा अयोग्य होने के कारण ही अन्त में परिषद् द्वारा भी उसे राज्य-च्युत कर दिया जाता है।

रामगुप्त का जीवन केवल अपने लिए था। उसके शब्दों में : "फिर भी अपने लिए मैं स्वयं कितना आवश्यक हूँ, कदाचित् तुम यह नहीं जानती हो।''[५] अपने जीवन को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझने के कारण ही उसने ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास भेजने में अनौचित्य नहीं माना। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वह युद्ध के लिए उत्सुक न होकर मद्यपान में व्यस्त रहा। जब उसने देखा कि चन्द्रगुप्त शकराज को मारने में सफल हो गया है और अब उसका जीवन खतरे में है तो उसने अवसरवादी व्यक्ति की भाँति समझौता करते हुए कहा : "चन्द्रगुप्त ! तुम मेरे भाई ही हो न ! मैं तुमको

१-२-३-४-५. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २६, २७, ६०, ५८, २८।

क्षमा करता हूँ।"[1] इस संदर्भ में उसने ध्रुवस्वामिनी पर भी सहधर्मिणी होने का दावा किया, क्योंकि उसे ज्ञात था कि उसकी इसी में भलाई है। पुरोहित के शब्दों में हम उसे निश्चय ही 'राजनीतिक दस्यु' कह सकते हैं,[2] जिसमें किसी के प्रति सहानुभूति की भावना शेष नहीं रही है।

चारित्रिक और नैतिक दृष्टि से पतित होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि रामगुप्त के अवचेतन मन में भलाई का बीज भी कहीं छिपा था। ध्रुवस्वामिनी के प्रति उसके मन में प्रेम-भाव अवश्य था, तभी तो उसने नाटक के आरम्भ में प्रतिहारी से कहा था: "युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है, देखती नहीं; जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझसे स्नेह नहीं करती।"[3] सम्भवतः इसीलिए वह ध्रुवस्वामिनी की व्यथा का भी अनुभव करता है: "आह! किन्तु ध्रुवदेवी! उसके मन में टीस है।······जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसमें एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा।"[4] उसकी इच्छा है कि ध्रुवस्वामिनी केवल उसी से प्रेम करे, इसीलिए उसके द्वारा गिड़गिड़ाने पर उसके मन में द्वन्द्व होता है; किन्तु सहसा यह स्मरण आ जाने पर कि वह किसी अन्य के प्रति अनुरक्त है, वह पुनः कठोर हो जाता है। उसके मन में प्रतिकार की भावना इतनी प्रबल हो उठती है कि वह किसी भी उपाय से ध्रुवस्वामिनी और उसके प्रेमी चन्द्रगुप्त से छुटकारा पाना चाहता है। निष्कर्षतः यह स्पष्ट हो जाता है कि रामगुप्त एक राज्यलोलुप, मद्यप, क्लीव, स्वार्थी, अभिमानी, नृशंस और सर्वथा अयोग्य शासक था। उसे सदैव यह अभिमान रहा कि वह एक बड़े राज्य का स्वामी है, फलतः वह सभी व्यक्तियों को अपनी आज्ञानुसार आचरण करते हुए देखना चाहता है। एकाधिकार के इस दुरुपयोग से ही समस्त प्रजा उसके प्रति विद्रोह-भाव धारण कर लेती है। परिणामस्वरूप उसे अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है।

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी का व्यक्तित्व प्रस्तुत नाटक में आद्यन्त व्याप्त है। नाटक के समस्त क्रिया-व्यापारों से सम्बद्ध होने के साथ साथ वह फल की उपभोक्त्री भी है, और इस अर्थ में नायिका भी वही है। सामान्यतः ध्रुवस्वामिनी को बुद्धिप्रधान चरित्र माना जाता है,[5] किन्तु उसका चरित्र आधुनिक समस्या-नाटकों के पात्रों की भाँति सर्वत्र बौद्धिक नहीं है। उसके आचरण को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पूर्वार्द्ध में वह विवश, असहाय, भावुक और दुर्बल नारी है। रामगुप्त की महादेवी के रूप में वह खिन्न और आकुल दिखाई देती है; अपना विरोध प्रकट करती भी है तो उसमें

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ६२।
२. देखिये 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ६३।
३-४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १८, १८।
५. देखिए 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पृष्ठ १९८।

कहीं आत्मबल दिखाई नहीं देता केवल दुःख को व्यक्त करने की विवशता अथवा छटपटाहट ही कहीं कहीं व्यक्त हुई है, अन्यथा वह स्वर्णपिंजर में बद्ध वंदिनी ही लगती है जिसका कोई नीड़ नहीं है। इस चरित्र-चित्रण के लिए सहसा प्रसाद को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि भारतीय नारी की सदा से ऐसी ही सीमाएँ रही हैं, जिन्हें वह साधारण परिस्थिति में झेलती आई है। असाधारण परिस्थिति के आ जाने पर वह अपनी परवशता के घेरे से बाहर आती है। यही कारण है कि ध्रुवस्वामिनी का चरित्र उत्तरार्द्ध में विद्रोही और बौद्धिक दोनों रूपों में व्यक्त हुआ है। शकराज के प्रस्ताव के बाद जब रामगुप्त उसे शक-शिविर में भेजने का निर्णय करता है तो किसी अवलम्ब के अभाव में अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए वह पहले 'शरण की प्रार्थिनी' बनकर रामगुप्त से समझौता करना चाहती है : "मैं स्वीकार करती हूँ, कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी।"[1] किन्तु, जब रामगुप्त उसे 'उपहार की वस्तु' से अधिक नहीं मानना चाहता तो उसका सुप्त स्त्रीत्व जाग उठता है और वह विद्रोह कर बैठती है : "मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निदेवी के सामने की है ?"[2] रामगुप्त द्वारा इस प्रश्न का भी उपहास करने पर वह छिन्नमस्ता का अवतार धारण कर लेती है : "पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है। वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते,...तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।"[3] इस सन्दर्भ में ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व की दृढ़ता, आत्मसम्मान, तेजस्विता आदि गुण पहली बार व्यक्त हुए हैं। उसका यह संकल्प निश्चय ही सराहनीय है : "मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।"[4] किन्तु, ऐसी स्थिति में रक्षा का जो उपाय वह सोचती है वह भी उसकी दुर्बलता को ही व्यक्त करता है—वह आत्महत्या के लिए प्रस्तुत होती है। चन्द्रगुप्त की प्रेरणा से ही वह इस दुर्बलता से मुक्त हो पाती है और उसका प्रेम कर्त्तव्य का रूप ग्रहण करता है। इसके बाद उसका व्यक्तित्व एक नए रूप में मुखरित होता है और उसकी सन्तप्त आत्मा अधिकार के बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटाती ही नहीं, कार्यरत भी होती है। वह चन्द्रगुप्त के साथ शकराज के शिविर की ओर वीर रमणी की भाँति प्रस्थान करती है और अपने प्रेम को स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का साहस भी उसमें आ जाता है। आरम्भ में उसके मन में द्वन्द्व था : "जब अन्तरंग 'हाँ' करना चाहता है, तब ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है ?"[5] चन्द्रगुप्त की विजय के बाद यह द्वन्द्व मिट जाता है और अन्ततः वह रामगुप्त की महादेवी होना ही अस्वीकार कर देती है : "राजा, क्या अब भी मैं महादेवी ही हूँ ? जो शकराज की शय्या के लिए क्रीतदासी की तरह भेजी गई हो वह भी महादेवी ! आश्चर्य !"[6] इस सन्दर्भ में रामगुप्त के

१-२-३-४-५-६. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २८, २५, २६-२७, २८, ३३, ५९।

प्रति उसका रोष विवाह की धार्मिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह के रूप में व्यक्त हुआ है। वैवाहिक रूढ़ियों का विरोध करके ध्रुवस्वामिनी ने प्रकारान्तर से यह प्रतिपादित किया है कि समाज में गतानुगतिकता की अपेक्षा यथार्थ के विश्लेषण पर बल दिया जाना चाहिए। यद्यपि प्रसाद के युग में विवाह-मोक्ष और नारी के पुनर्लग्न के समर्थन में स्वर नहीं उठाया जा रहा था, तथापि इस ओर ध्यान देकर उन्होंने उचित ही किया है। प्रस्तुत नाटक के तीसरे अंक में ध्रुवस्वामिनी का यह बौद्धिक रूप ही मुख्य रहा है, जहाँ वह अपने तर्कों से रामगुप्त और पुरोहित को ही परास्त नहीं करती, वरन् चन्द्रगुप्त की जड़ता को भी हर लेती है : "झटक दो इन लौह-शृंखलाओं को! यह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सहेगा। तुम्हारा क्रुद्ध दुर्दैव भी नहीं।"[१] स्पष्ट है कि ध्रुवस्वामिनी के चरित्र का विकास परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है। वह परिस्थितियों में विवश भी है और उन पर विजयी भी होती है।

अन्य पात्र

प्रस्तुत नाटक के अन्य पात्रों में शिखर-स्वामी, कोमा, मन्दाकिनी, पुरोहित, शकराज और मिहिरदेव उल्लेखनीय हैं, अतः यहाँ इन सबके व्यक्तित्व और क्रिया-कलाप की संक्षिप्त चर्चा भी उपयुक्त होगी।

शिखर-स्वामी : शिखर-स्वामी राज्य का अमात्य है और रामगुप्त के समान ही चतुर और नीतिकुशल है। किन्तु, उसे स्वीकार्य नीति की परिभाषा अन्यों से भिन्न है। जो कार्य परिस्थिति के अनुकूल हो, वह उसकी दृष्टि में नीति है। समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् जब रामगुप्त ने बल-प्रयोग से राज्य लेना चाहा तो उसने चन्द्रगुप्त को राज्य के प्रति उदासीन देखकर रामगुप्त को ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राजा बनाने में सहयोग दिया। किन्तु, नाटक के अन्त में चन्द्रगुप्त के शक्ति-प्रदर्शन को देखकर वह रामगुप्त को छोड़कर उसका समर्थक बन गया। स्पष्टतः रामगुप्त की भाँति वह भी अत्यधिक स्वार्थी है। इसीलिए चन्द्रगुप्त के बन्धन-मुक्त हो जाने पर वह कितनी चतुराई का परिचय देता है : "कुमार! इस कलह को मिटाने के लिए हम लोगों को परिषद् का निर्णय माननीय होना चाहिए। मुझे आपके आधिपत्य से कोई विरोध नहीं है, किन्तु सब काम विधान के अनुकूल होना चाहिए।"[२] रामगुप्त की भाँति वह भी कायर, स्वार्थी और स्वाभिमान-विहीन है। यदि उसमें किंचित् भी वीरता होती तो वह रामगुप्त को बढ़ावा देने की अपेक्षा उसका विरोध करता। किन्तु, उसकी दृष्टि में राज्य-रक्षा व्यक्ति की सम्मान-रक्षा से अधिक आवश्यक थी : "अवसर देखकर राज्य की रक्षा करनेवाली उचित सम्मति दे देना ही तो कर्त्तव्य है। राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है।"[३] रामगुप्त को कुमार्ग पर अग्रसर करने में शिखर-स्वामी का भी बहुत-कुछ योगदान है, इसमें सन्देह नहीं।

१-२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५६, ६१, ७६।

कोमा : आचार्य मिहिरदेव द्वारा पालित-पोषित कन्या कोमा शकराज की प्रेयसी और भावी पत्नी है। जीवन के वसन्त में प्रेम-रस की दो घूंट पीने के लिए लालायित इस कोमल बालिका ने शकराज से प्रेम करके जीवन के सुनहले स्वप्न देखे थे। किन्तु, उसे शीघ्र ही अपनी इस भूल का ज्ञान हो गया। शकराज के विलासी रूप का परिचय पाकर वह बहुत दुःखी हुई। वह भावुक प्रकृति की बाला है, फलतः यह सहन नहीं कर सकती कि उसका पति किसी अन्य स्त्री का अपमान करे। इसीलिए वह शकराज द्वारा ध्रुवस्वामिनी को माँगने का विरोध करती है : "मेरे राजा! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो? किन्तु, राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले बिना नहीं हो सकता?"[1] स्पष्टतः कोमा में अनुभूति के साथ साथ विवेक भी है। इसीलिए शक-शिविर में ध्रुवस्वामिनी के आगमन का समाचार सुनकर वह व्याकुल हो जाती है। एक ओर मिहिरदेव के परामर्श से वह शिविर छोड़ने को उद्यत है क्योंकि उसे भलीभाँति ज्ञात है कि वहाँ रहने पर वह शकराज की इच्छा-पूर्ति में बाधक होकर अपमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त कर पाएगी, किन्तु दूसरी ओर उसका भावुक और कोमल नारी-हृदय पुकार उठता है : "तोड़ डालूं पिताजी! मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा, वही दुलारभरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूं एक झटका······उसकी हरी हरी पत्तियाँ कुचल जायें और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे? न, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।"[2] अन्ततः विवेक का आश्रय लेकर वह शक-शिविर का त्याग तो कर देती है, किन्तु शकराज के प्रति अपने प्रेम को विस्मृत नहीं कर पाती। इसीलिए शकराज की हत्या के पश्चात् उसका शव प्राप्त करके वह उसके साथ सती होना चाहती है।

कोमा का व्यवहार मानव मात्र के प्रति ही सदय नहीं है, अपितु वह प्रकृति के उन्मुक्त सौन्दर्य के प्रति भी अनुरक्त है। उसे फूल-पौधों से अपार स्नेह था। प्रतिदिन वह उन्हें अपने ही हाथों से सींचती थी। इसीलिए प्रकृति के प्रति शकराज का उपेक्षा-भाव देखकर वह खिन्न हो उठती है : "सब जैसे रक्त के प्यासे! प्राण लेने और देने में पागल! वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं।"[3] कोमा दार्शनिक भी थी, यह गुण उसे अपने पिता मिहिरदेव के संसर्ग से प्राप्त हुआ था। उसके अनुसार प्रेम मानव की कठिनाइयों में मार्गदर्शन करानेवाली शक्ति है। इसी प्रकार वह प्रत्येक समस्या और प्रश्न का विवेचन-विश्लेपण दार्शनिक दृष्टिकोण से करती है। शकराज की युद्ध-प्रियता को लक्षित करके वह कितना दार्शनिकतायुक्त उत्तर देती है : "अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है?"[4] अनुभूतिमयी, दार्शनिक और प्रेममयी कोमा जब अन्त में प्रेम की बलिवेदी पर अपना बलिदान दे देती है, तो सहृदय

१-२-३-४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ४३, ४५, ३७, ३६।

दर्शक अथवा पाठक का मन संवेदना से भर जाता है।

मन्दाकिनी : ध्रुवस्वामिनी की एकमात्र सहचरी मन्दाकिनी थी, जो उसकी भावनाओं और व्यथा से भलीभाँति परिचित थी और समय समय पर उसके पक्ष का समर्थन करती थी। नाटक में उसके विचार और कार्य ध्रुवस्वामिनी को लक्ष्य में रखकर ही अग्रसर रहे हैं। उसी के हित के लिए वह राजनीतिक गतिविधियों और समस्याओं से सतत परिचित रहना चाहती थी। रामगुप्त के अत्याचारों से विचलित होकर उसने इस भार से मुक्त हो जाना भी चाहा, किन्तु तभी उसका विवेक जाग्रत हो गया : "मन्दा! तुझे विधाता ने क्यों बनाया?...नहीं, मुझे हृदय कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा। न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना होगा।"[1] मन्दाकिनी अपने कर्त्तव्य के प्रति अत्यधिक सचेत थी। इसीलिए जब शिखर-स्वामी और रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को शक-शिविर में भेजने के लिए तत्पर थे तब उसने उनके मन में साहस का संचार करने के उद्देश्य से कहा था : "तुम मृत्युदंड के लिए उत्सुक! महादेवी आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत! फिर यह हिचक क्यों? एक बार अन्तिम बल से परीक्षा कर देखो। बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सर्वनाश!"[2] चन्द्रगुप्त और सामन्त-कुमारों के मन में उत्साह का उन्मेष करने में भी उसका पर्याप्त योगदान था। उसके द्वारा गाये गये गीत में "क्रंदन कम्पन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो"[3] आदि पंक्तियाँ इसी तथ्य की प्रत्यायक हैं। यह उल्लेखनीय है कि मन्दाकिनी प्रसाद द्वारा कल्पित पात्र है, जिसे नाटक में इस दृष्टिकोण से स्थान दिया गया है कि वह ध्रुवस्वामिनी की अव्यक्त भावनाओं और विचारों को समयानुसार स्पष्ट कर सके। नाटक में उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास कहीं भी लक्षित नहीं होता। जब ध्रुवस्वामिनी पुरोहित को अपनी स्थिति से उपयुक्ततः परिचित नहीं करा पाई, जब चन्द्रगुप्त ने शकराज की हत्या के पश्चात् कार्य-दिशा से विरक्त होना चाहा और जब शिखरस्वामी ने ध्रुवस्वामिनी को बंदिनी बनाना चाहा उस समय मन्दाकिनी ध्रुवस्वामिनी के हेतु, सत्य की समर्थक शक्ति के रूप में हमारे सम्मुख आती है। ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त के प्रति, और चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी के प्रति, अनुरक्त करने के लिए उसने दोनों की भावनाओं को एक-दूसरे के सम्मुख प्रायः स्पष्ट किया है। इसी प्रकार उसने रामगुप्त की नृशंसता का वीरतापूर्वक विरोध किया है और परिषद् को उचित न्याय के लिए प्रोत्साहित किया है। उसने सभी कार्य निःस्वार्थ भाव से किए हैं, जिससे उसकी चरित्र-गरिमा का बोध होता है।

पुरोहित : प्रस्तुत नाटक में पुरोहित का आगमन तृतीय अंक में हुआ है। विवाह-मोक्ष की समस्या के समाधान और नायक की फल-प्राप्ति में उसका योगदान महत्त्वपूर्ण है। ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त के मिथ्या विवाह-बंधन को लेकर जब मन्दाकिनी ने धर्मशास्त्र और धर्म के नियामक ब्राह्मण-वर्ग पर व्यंग्य किये तो पुरोहित ने अपनी

१-२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २१, ३१, ३५।

निष्पक्षता का परिचय इन शब्दों में दिया : "स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।"[१] इसी तर्क के आधार पर उसने क्लीव रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध-विच्छेद में सहयोग दिया। सत्य का समर्थन करने में वह तनिक भी नहीं हिचकिचाया और रामगुप्त के मृत्यु-भय दिखाने पर उसने अपने आत्मबल को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया : "ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत है। अन्य किसी भी शक्ति को वह तुच्छ समझता है। तुम्हारे वधिक मुझे धार्मिक सत्य कहने से रोक नहीं सकते। उन्हें बुलाओ, मैं प्रस्तुत हूँ।"[२] स्पष्ट है कि मिहिरदेव और पुरोहित-जैसे पात्र अन्याय और अत्याचार का विरोध करते हैं और प्रसाद ने प्रस्तुत कृति में इसी दृष्टि से उनकी अवतारणा की है।

शकराज : नाटक के दुष्ट पात्रों में शकराज भी रामगुप्त की भाँति मद्य, विलास और मिथ्या अभिमान का पुतला है। उसके अनुसार, "सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के नाम हैं। मैं तो पुरुषार्थ को ही सबका नियामक समझता हूँ। पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है।"[३] इसी प्रकार वह विश्व में किसी को भी अपने से अधिक महान् मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है। राजनीतिक प्रतिशोध की आड़ में काम-वासना की तृप्ति के लिए उसने ध्रुवस्वामिनी की माँग की, इस सन्दर्भ में कोमा की भावनाओं की उपेक्षा की तथा मिहिरदेव के परामर्श को ठुकरा दिया। उसका चरित्र इतना दुर्बल है कि जहाँ एक ओर कोमा के परामर्श का विरोध करने के लिए वह पुरुषार्थ की दुहाई देता है, वहाँ दूसरी ओर धूमकेतु के दर्शन मात्र से भयभीत हो उठता है। कोमा ने उसकी इस दुर्बलता पर इन शब्दों में व्यंग्य किया है : "मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्त्वमयी पुरुष-मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं।...तुम आशंकामात्र से दुर्बल—कम्पित और भयभीत हो।"[४] कोमा के इस वक्तव्य से शकराज का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उद्घाटित हो जाता है। विलास-जर्जर शकराज का हृदय धूमकेतु से व्याकुल और भय-विह्वल है। वह एक ओर कोमा और आचार्य मिहिरदेव को शान्ति-पाठ के लिए रोकना चाहता है, तो दूसरी ओर ध्रुवस्वामिनी को प्राप्त करने के लिए भी उत्सुक है। अपनी विलासमयी प्रवृत्ति के कारण ही अन्त में वह द्वन्द्व-युद्ध में मारा जाता है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद ने उसे एक निराला व्यक्तित्व प्रदान किया है।

मिहिरदेव : नाटक के अन्य पात्रों में मिहिरदेव रंगमंच पर केवल दो बार कुछ क्षणों के लिए ही आते हैं। इन लघु क्षणों में ही उनका व्यक्तित्व पाठक पर अमिट छाप छोड़ जाता है। शत्रु-पक्ष से सम्बन्धित होते हुए भी वे शकराज के ध्रुवस्वामिनी सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध करते हैं। स्त्री की प्रतिष्ठा उनकी दृष्टि में बहुत बड़ी बात

१-२-३-४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५४, ६३, ३८, ४७।

है। राजनीति से अधिक वे मानवता के समर्थक हैं : "राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है।"[1] उनके विचार पवित्र हैं और साथ ही चिन्तन और अनुभव से युक्त भी। राजमहलों से अधिक उन्हें प्रकृति के मनमोहक वातावरण में रहना अच्छा लगता है। किसी के यहाँ उपेक्षित होकर रहने की अपेक्षा वे वृक्षों के नीचे शयन को अधिक गौरवपूर्ण समझते हैं। दार्शनिक होने के साथ साथ वे कोमा और शकराज के संवंध में अपने कर्त्तव्य के प्रति भी सजग हैं। किन्तु, दार्शनिकता और सत्यवादिता के होने पर भी उनका चरित्र सशक्त रूप में सामने नहीं आ पाया है। आत्मबल के अभाव में वे परिस्थितियों से संघर्ष करने की अपेक्षा पलायन को उपयुक्त समझते हैं। अपने अन्य नाटकों में प्रसाद ने ऐसे दार्शनिक पात्रों की सृष्टि की है जो सत्य से किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होते, किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में मिहिरदेव इस स्थिरता का परिचय नहीं दे पाते।

मूल्यांकन

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रसाद ने प्रस्तुत नाटक के प्रमुख और गौण पात्रों की सृष्टि में मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है और उनकी ऐतिहासिक आत्मा को सुरक्षित रखने का यथाशक्य प्रयत्न किया है। वैसे, इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है कि उन्होंने रामगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी का चित्रण शुद्ध ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर किया है अथवा नहीं ? ऐसी शंकाओं का होना स्वाभाविक है और यह मानने में भी संकोच नहीं होना चाहिए कि किसी न किसी समस्या को प्रमुखता देने के कारण 'ध्रुवस्वामिनी' के पात्र अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व का पूर्णत: निर्वाह नहीं कर पाए हैं। प्रसाद ने कल्पना के आश्रय द्वारा इतिहास के कंकाल को मांस और मज्जा से परिपूर्ण करके पुष्ट किया है। फलत: 'संभाव्यता' का तत्त्व उनमें सर्वत्र विद्यमान है। उन्होंने ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से जो समसामयिक समस्याएँ उठाई हैं, उनके आधार पर पात्रों की तद्युगीन वास्तविकता के सम्बन्ध में शंका न करना ही उचित होगा।



---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ४४।

नारी-आदर्श

डॉ० देवेश ठाकुर

प्रसाद के नारी सम्बन्धी आदर्श और मान्यताएँ गम्भीर और विशाल अध्ययन का आधार लिए हैं। उन्होंने वैदिक साहित्य से लेकर स्मृति, पुराण, उपनिषद्, इतिहास तथा बौद्ध और शैव दर्शन का अध्ययन करके तथा उनसे प्रभावित होकर अपने विचारों को स्वरूप प्रदान किया। उनकी विचारधारा के विकास में भारतीय संस्कृति और इतिहास का विशेष योगदान रहा है। भारतीय इतिहास में उन्होंने उसके स्वर्णयुग—गुप्तकाल—को ही अपने नाटकों की पीठिका के रूप में प्रस्तुत किया है। दूसरी ओर कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, वाल्मीकि, व्यास प्रभृति साहित्यकारों की रचनाएँ उनके साहित्य में एक वीथिका-सी बनाती चलती हैं।

वैदिक साहित्य में नारी को पुरुष के समान ही नहीं, पुरुष से उच्चतर बनाने की चेष्टा निरन्तर कार्यान्वित हुई है और इसीलिए उसका स्तवन किया गया है (ऋग्वेद, ४।५७।६।७)। प्रसाद पर इन वैदिक मान्यताओं का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार परवर्ती संस्कृत-साहित्य से भी उनका अटूट सम्बन्ध रहा है। कहीं कहीं उनके आदर्श कालिदास, भवभूति आदि साहित्यकारों के बहुत निकट आ जाते हैं। संस्कृत-काव्यधारा के मूल स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' का अध्ययन उनकी विशेष चिन्तना का विषय रहा है। उनके नारी पात्रों में निहित उदात्तता का गुण विश्वकवि वाल्मीकि की लेखनी के चमत्कार से अनुप्राणित है। 'रामायण' की ही भाँति व्यास के 'महाभारत' से भी वे प्रभावित हुए हैं। उनके 'कंकाल' का वर्णसंकर समाज 'महाभारत' के अध्ययन की देन है। उन्होंने अपने समाज में महाभारतकालीन समस्याओं और विषमताओं को लक्ष्य किया था। महिलाओं की स्थिति का अध्ययन इस दिशा में विशेष चिन्तन का विषय बना। सामाजिक व्यवस्था की उच्छृंखलता में जीवन किस प्रकार विभीषिकाओं की केन्द्रस्थली बन जाता है और सामाजिक व्यावहारिकता की गति में किन परिस्थितियों के कारण शैथिल्य आ जाता है, प्रसाद ने इन सबका मनन किया था; परिणामस्वरूप इनका विश्लेषण ही उनके साहित्य का विषय बना।

संस्कृत-साहित्य के इस अध्ययन के साथ साथ प्रसाद ने शैव दर्शन, बौद्ध दर्शन तथा इतिहास का भी गहन अध्ययन किया था। उनका परिवार शैव मत का अनुयायी था। शैव दर्शन के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा दर्शन से वे अत्यधिक प्रभावित थे। इसी दर्शन के आधार पर उनके नारी सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है। उनके साहित्य में उक्त दर्शन की अन्य विशेषताएँ नियतिवाद, स्वतन्त्रतावाद, अभेदवाद (आभासवाद), समरसता तथा आनन्दवाद के रूप में व्यक्त हुई है। शैव दर्शन के साथ साथ बौद्ध दर्शन का प्रभाव भी उनके साहित्य में स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। प्रसाद में दुःख-

वाद का स्वर बहुत ऊँचा है। 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' एवं 'कामायनी' में इसके उदाहरण बिखरे पड़े हैं। साथ ही वे इस दर्शन की दूसरी मान्यता क्षणिकवाद से भी प्रभावित हैं। इसी प्रकार बौद्धों की करुणा से भी उन्होंने प्रेरणा प्राप्त की थी। प्रसाद के कई नारी पात्र इसी करुणा के प्रतीक हैं। प्रसाद ने भारतीय साहित्य के अध्ययन के साथ साथ पाश्चात्य साहित्य का भी अध्ययन किया था। वे स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तक थे, जिसका प्रभाव उनके नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण पर भी लक्षित होता है।

प्रसाद के अभ्युदय का काल भारत की राष्ट्रीय जागृति एवं सामाजिक चेतना का काल है। वास्तव में प्रसाद-युग राजनीतिक क्षेत्र में गाँधी-युग है, क्योंकि इस काल में देश का स्वरूप गाँधी जी द्वारा निश्चित किया गया और वे ही इसके निर्माणकर्त्ता माने गए। नारी-सम्मान, सत्यनिष्ठा एवं अहिंसा-पालन के शस्त्रों को लेकर वे विश्वबन्धुत्व के लक्ष्य-पथ पर बढ़ने लगे। इस काल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी भारत में विकास पाती हुई इस विचारधारा का साथ दिया तथा मानवतावादी भावना को प्रश्रय प्राप्त हुआ। राष्ट्रीय जागृति के इस प्रहर में गाँधी जी ने युगों से उपेक्षित महिला के महत्त्व को समझा। उनकी अहिंसा-नीति को सफल बनाने में नारी ही सर्वश्रेष्ठ अस्त्र हो सकती थी।

प्रसाद-युग भारत की राजनीतिक विकास-भावना के साथ साथ सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विकास का युग भी था। इसी युग में नवीन विचारधाराओं को भी भारतीय भूमि में प्रस्फुटित होने का अवकाश मिला। इनमें मार्क्सवाद, बुद्धिवाद, जनवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा मानवतावाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी विचारधाराओं ने समान रूप से मानव के मूल्य और महत्त्व की प्रतिष्ठा करनी चाही। फलस्वरूप परिसीमित नारी को अवरुद्ध परिपाटी के बाहर निकालकर उन्मुक्त बौद्धिक आलोक में देखने का प्रयत्न किया गया। प्रसाद पर इस मानवतावादी विचारधारा का प्रचुर प्रभाव पड़ा है और यह सांस्कृतिक मानवतावादी भावना उनकी मूल साहित्यिक विचारधारा बनकर अभिव्यक्त हुई है।

इस युग की सामाजिक सुधार-संस्थाओं में विशेषतः आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन तथा ब्रह्म-विद्या-समाज ने अन्य समाज-सुधारों के साथ साथ नारी-जागृति की भावना को विशेष बल प्रदान किया। महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्थापित आर्य समाज इन सभी संस्थाओं में अग्रगण्य रही, क्योंकि इसके माध्यम से सैद्धान्तिक उपदेशों के स्थान पर रचनात्मक कार्यों को व्यवहार में लाया गया। भारतीय संस्कृति का प्रचार, बाल-विवाह-निषेध, विधवा-विवाह का समर्थन और गुरुकुलों की स्थापना आर्य समाज के प्रमुख कार्यक्रम रहे हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' और नारी

प्रसाद का युग सांस्कृतिक जागरण का युग रहा है। वे अपने राष्ट्र के अतीत गौरव से अत्यधिक प्रभावित थे। साथ ही 'ध्रुवस्वामिनी' तक आते आते वे नारी की

युगीन समस्याओं के प्रति भी जागरूक हो चुके थे। उन्होंने भारत के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास के विचार-पटल पर युगीन समस्याओं के संदर्भ में अपने नारी पात्रों की सृष्टि की है। उनकी सांस्कृतिक नारी पात्राएँ राष्ट्रीय गौरव से पूर्ण, उदात्त भावनाओं से युक्त और अपने अधिकार के प्रति सजग हैं। उनमें अपने 'स्व' के प्रति पूर्ण सम्मान की भावना है। वे देश और जाति के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग के महान् भाव से पूर्ण, अपनी सांस्कृतिक निष्ठा के प्रति गौरवमय तथा कर्त्तव्य के प्रति सचेत हैं। प्रसाद की यह सांस्कृतिक नारी-भावना अलका, कार्नेलिया, तितली, शैला, मल्लिका, ध्रुवस्वामिनी, सरमा, जयमाला, मधूलिका आदि के चरित्रों में प्रस्फुटित और विकसित हुई है। इस वर्गीकरण में आनेवाली सभी नारियाँ उदात्त गुणों से पूर्ण हैं। उन्हें अपने स्वाभिमान का विचार है, वे स्वभाव से कोमल हैं, परन्तु उनकी कोमलता परिस्थिति के अनुरूप कठोर होना भी जानती है। नारी को सम्मानपूर्ण एवं महत्त्व का स्थान देते हुए प्रसाद ने उसे घर की सीमाओं से बाहर लाकर उसकी शक्ति, साहस और तेज का सही मूल्यांकन किया तथा समाज के सम्मुख उसकी श्रेष्ठता स्थापित की; और साथ ही भारतीयों को उसके इस विस्मृत स्वरूप का दर्शन कराया। ध्रुवस्वामिनी का व्यक्तित्व इसका अन्यतम उदाहरण है। उसका चरित्र ही नारी-स्वातन्त्र्य का प्रतीक है। वस्तुतः प्रसाद का सम्पूर्ण साहित्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की आवाज़ ऊँची उठाता है, नारी भी इसका अपवाद नहीं है। स्वतन्त्रता के अन्तर्गत ही उनके नारी-चरित्रों का विकास हुआ है। उन्होंने नारी को स्वतन्त्र प्रेम का अधिकार दिया है और वह उनकी दृष्टि से नीति-मान्य और समाज-स्वीकृत है। वे समाज के बोझ को व्यक्ति पर नहीं डालना चाहते। उनका कहना है कि वे ही सामाजिक नियम नीतिसम्मत हो सकते हैं जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें तथा उसके व्यक्तित्व को विकास की प्रेरणा दे सकें। यदि नारी अपने स्वत्व की रक्षा के लिए सम्पूर्ण समाज से विद्रोह मोल लेती है और यदि उसमें पूर्ण निष्ठा की भावना विद्यमान है, तो उसका यह कार्य किसी प्रकार से नीति-विरोधी नहीं कहा जा सकता। 'ध्रुवस्वामिनी' की पुनर्लग्न और मोक्ष की समस्या इसका ज्वलंत प्रमाण है।

कभी कभी नारी को अनीति की ओर ले जाने की दिशा में व्यक्ति या समाज भी उत्तरदायी रहा है। प्रसाद ने अपने कुछ चरित्रों के माध्यम से इस यथार्थ की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में समाज प्रमुख नहीं है, किन्तु रामगुप्त, शिखर-स्वामी आदि पात्रों के माध्यम से अनैतिक तत्त्वों की ओर प्रभावशाली संकेत किए गए हैं। वस्तुतः प्रसाद नारी की सामाजिक दुरवस्था से क्षुब्ध थे। उन्होंने अधिकारविहीन, भविष्यहीन और दयनीय नारी को पुरुष की क्रूरता, अन्याय और अत्याचारों का शिकार बनते देखा था। नारी की यह शोचनीय स्थिति ही उनकी प्रतिक्रिया का कारण बनी और वे नारी-स्वतन्त्रता के समर्थक तथा उसके अधिकारों के पक्षपाती बनकर साहित्यिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। 'ध्रुवस्वामिनी' में उन्होंने अपने युग में परम्परा से चली आ रही संकीर्ण मान्यताओं की परिधि से आवृत्त

नारी-जीवन की व्यथा को एक नई और अंतदर्शी दृष्टि से देखा। 'ध्रुवस्वामिनी' में विपन्नता के बीच नारी अपने अधिकारशून्य व्यक्तित्व पर जैसे स्वयं ही विस्मित हो उठती है : "पुरुष के लिए नारी सब कुछ बलिदान कर देती है, लेकिन उसके इस बलिदान का कोई मूल्य नहीं········अपने निर्बल और अवलम्ब खोजनेवाले हाथों से वह पुरुष के चरणों को पकड़ती है, और वह सदैव ही इसको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है।"[1] उनकी दृष्टि में पुरुष नारी के उदार समर्पण को निष्काम उत्सर्ग न समझकर उसे नारी की विवशता और अपना अधिकार मान बैठा है। धर्म के नाम की दुहाई देकर नारी की महत्ता को दबाए रखने की परम्परा-सी जैसे उसकी नसों में बह रही है। 'ध्रुवस्वामिनी' में रामगुप्त-जैसे सामाजिकों ने नारी को विनोद और उपहार की वस्तु मानकर उसकी सहनशक्ति और नैतिक निष्ठा की हँसी उड़ाई है। ध्रुवस्वामिनी का जीवन इस वर्ग की नारी का प्रतिनिधित्व करता है। वह स्वर्ण-पिंजर में पशु-सम्पत्ति-सी समझी जाकर रामगुप्त की कापुरुषता का आखेटमात्र है। वह बन्दिनी के प्रमोद का कटा-छँटा हुआ-सा शोभा वृक्ष है : "कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गई।"[2] उसका जीवन जैसे 'जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी' होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्म-विज्ञापन का भार ढोते रहने मात्र के लिए ही है।[3]

पुनर्विवाह को लेकर प्रसाद के विचारों में विकास-क्रम की रेखा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनकी इस भावना का उत्कर्ष 'ध्रुवस्वामिनी' में लक्षित होता है। जब पति अपने कर्तव्यों को पूर्ण कर सकने में असमर्थ हो तब उन्होंने नारी को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है। इस विषय में प्रसाद पुरोहित के स्वर में घोषणा करते हैं : "धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाद के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से नहीं टूट सकते, परन्तु यह सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी विहीन है····· यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीब है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।"[4] इस प्रकार प्रसाद ने उन सभी सामाजिक समस्याओं का स्पर्श किया है जो तत्कालीन समाज-सुधारकों के सम्मुख उपस्थित थीं। प्रसाद ने इस बात को स्पष्ट रूप से देखा था कि सिद्धान्त रूप से पुरुष द्वारा सदैव से नारी की महिमा का गुणगान होता रहा है, किन्तु व्यवहार में उसके रूप और अभिव्यक्ति में अपार भिन्नता है। नारी सब तरह पुरुष से उत्पीड़ित और प्रताड़ित है। 'ध्रुवस्वामिनी' में उसके इसी उत्पीड़न की कहानी प्रस्तुत करके पुरु-

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २३।
२. चन्द्रगुप्त, पृष्ठ २०५।
३. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २८।
४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ६३।

वर्ग की निर्लज्जता एवं अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की आवाज़ ऊँची की गई है। युग के नवोन्मेष में नारी भी पुरुष के समान जीवन-निर्वाह का अधिकार चाहती है। इस प्रकार लेखक ने यहाँ व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की है, एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर अनुशासन उसे सह्य नहीं है।

भारतीय संस्कृति में नारी के लिये पत्नीत्व की मर्यादा का आदर्श निर्वाह अन्यतम कर्तव्य है। पति के सुख-दुःखों की सहचरी के रूप में उसके प्रति एकनिष्ठता और आज्ञाकारिता उसके जीवन के प्रमुख लक्ष्य हैं। प्रसाद पत्नीत्व के आदर्श को महत्त्व प्रदान करने के साथ एकनिष्ठता और आज्ञाकारिता के अर्थ को उस विन्दु तक नहीं खींच ले जाते जहाँ नारी का अपना स्वर, अपनी इच्छा और अपना अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। उनके मत में जिस प्रकार नारी से आदर्श के निर्वाह की अपेक्षा की जाती है उसी प्रकार पुरुष को भी अपनी सीमाओं एवं अधिकार-क्षेत्रों का ध्यान रखना चाहिए। यदि वह नारी से नैतिक व्यवहार की आशा रखता है तो उसे स्वयं भी नीति-विरोधी व्यवहारों का अनुसरण नहीं करना चाहिए और यदि वह ऐसा करता है तो नारी भी उसका विरोध करने के लिए स्वतन्त्र है। प्रसाद ने अपनी अनेक पात्रियों को यह सुविधा प्रदान की है। उनकी पत्नी-पात्रियाँ एकनिष्ठ, कर्तव्यमयी एवं सदाचार से युक्त हैं। उनमें अपने पति के प्रति सम्मान और आज्ञाकारिता की भावना विशिष्ट है। लेकिन साथ ही वे अपने पति को भी दुराचार करते नहीं देख सकतीं। ऐसे अवसरों पर अपनी नैतिक महाशक्ति को लेकर वे अपने आराध्य समझे जानेवाले पति का प्रकट विरोध करती हैं, और प्रसाद की दृष्टि में यह पूर्ण नैतिक है। ऐसा करने से उनके नैतिक आचार की श्रेष्ठता में कोई अन्तर नहीं आता।

चन्द्रगुप्त से प्रेम करते हुए भी जब ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त की पत्नी बन जाना पड़ता है तो नारी-स्वभाव के अनुसार नियति पर विश्वास करते हुए वह रामगुप्त के प्रति एकनिष्ठ हो जाती है। अपने जीवन की सम्पूर्ण संवेदनाओं और असफलताओं को ममता और कारुण्य की अनुभूति में छिपाकर वह अपने पत्नीत्व का कर्तव्य-निर्वाह करती चलती है। लेकिन रामगुप्त उसे उपहार में देने की वस्तु समझता है और पति होते हुए भी शकराज के पास भेजे जाने का आदेश देता है। तब भी ध्रुवस्वामिनी सहनशीलता के शृंग पर चढ़कर उससे विनय करती है : "राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ······मैं तुम्हारी होकर रहूँगी ! राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को—बहुत-सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं ; किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।"[१]

लेकिन दुर्विनीत रामगुप्त जब उसे किसी दूसरे को देने पर ही तत्पर हो जाता है तब वह अपने स्वत्व और स्वाभिमान की रक्षा के लिए सन्नद्ध होकर रोष-भरे शब्दों में कहती है : "निर्लज्ज ! मद्यप !! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं ?

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २८।

नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी ! मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।"[१] उसकी भर्त्सना में वह जैसे शक्तिमान् होकर बोलती है : "अनार्य ! निष्ठुर !! मुझ कलंक-कालिमा के कारागार में बन्द कर मर्म वाक्य के धुएँ से दम घोंटकर मार डालने की आशा न करो। आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिलाकर मेरा निर्लज्ज जीवन बढ़ाने के लिए तत्पर है···मैं एकान्त चाहती हूँ।"[२] वह यह भी जानती है कि उसका राक्षस-विवाह हुआ है। अभी तक वह अपनी अपार उदारता और सामंजस्य-प्रवृत्ति के कारण उसका यों ही निर्वाह कर लेना चाहती थी। परन्तु अब वह उसे मानने से भी इन्कार कर देती है। इस विषय में उसके विचारों को पुरोहित के प्रति मन्दाकिनी की निम्नलिखित उक्ति से भलीभाँति समझा जा सकता है : "स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँधकर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार, कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें।"[३] इस प्रकार से प्रसाद ने नैतिक आदर्श की विस्तृत और उदार व्याख्या की प्रस्थापना का प्रयास किया है। नारी की स्वतन्त्रता पर उनका अटल विश्वास है।

प्रसाद ने नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण विशेष रूप से कथा-साहित्य में किया है। नाटकीय पात्रों में भी इसकी मात्रा कम नहीं है। वे नारी-स्वभाव में मूलतः सद्गुणों की अवस्थिति मानकर चले हैं। उनकी दृष्टि में नारी प्रकृति से उदार है। दया, त्याग, क्षमा और ममता उसके स्थायी गुण हैं। इन सब गुणों की स्वीकृति प्रसाद-साहित्य में कई चरित्रों के माध्यम से बार बार दोहराई गई है। उन्होंने ध्रुवस्वामिनी के स्वभाव में नारी की सहनशीलता के महान् गुण को अधिष्ठित किया है। वह भरसक रामगुप्त के अत्याचारों का विरोध करती है। सहनशीलता की इस कठिन अग्नि-परीक्षा के साथ साथ उसके स्वभाव का एक अन्यतम गुण एकनिष्ठता भी है। प्रसाद की पात्रियाँ इस कसौटी पर शत-प्रतिशत खरी उतरती हैं। एकनिष्ठता की भाँति ही उन्होंने नारी-स्वभाव में समर्पण के गुण का अधिष्ठान किया है। उनके मत में नारी पुरुष में पौरुष देखने की अभिलाषा रखती है। वह वासना के वशीभूत होकर पुरुष के प्रति समर्पित नहीं होती। शकराज के प्रति कोमा का यह कथन कितना सार्थक है : "प्रेम का नाम न लो ! वह एक पीड़ा थी जो छूट गई।······मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्त्वमयी पुरुष-मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं।"[४]

कोमा के माध्यम से 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने सर्वथा भिन्न कोटि की नारी का चित्रण किया है। वह मूलतः प्रेम के लिए बनी है। प्रेम की भावुकताजन्य

१-२-३-४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २८, ३३, ५४, ४७।

अनुभूति उसके रक्त में समाहित है। प्रसाद ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से कोमा के प्रणय-प्रसंग सम्बन्धी मनोभावों के विषय में कुछ नवीन रहस्यों का उद्‌घाटन किया है। वे यह मानकर चले हैं कि नारी के लिए प्रणय का महत्त्व सबसे अधिक है, प्रणय के लिए वह सभी कुछ त्याग कर सकती है, उसके प्रणय में एकनिष्ठता की भावना प्रबल होती है, अपने प्रणय तथा सम्मान के प्रति प्रवंचना किए जाने पर वह कठोर हो जाती है। वह सभी अवस्थाओं में दुलार की प्रत्याशा करती है, अपने से प्रेम करनेवाले को वह कभी नहीं भूल पाती, विशेष अवस्थाओं में वह कर्तव्य के लिए प्रणय की उपेक्षा भी सहन कर लेती है, लेकिन स्नेह की मीठी टीस को कभी भी भूल नहीं पाती; तथा इसी प्रणय की पीठिका में कभी कभी उसके मनोभावों की असामान्यता भी प्रकट होती है। कोमा के चित्रण में प्रसाद ने नारी की प्रणयानुभूति को उपर्युक्त आधारों पर चित्रित किया है। कुल मिलाकर कोमा एक कोमलहृदया नारी की प्रतीक है जो प्रणय-मार्ग में अपना जीवन अर्पित कर देती है। वह भारतीय नारी के उस आदर्श को प्रस्तुत करती है जिससे बद्ध होकर वह पुरुष के प्रेम का कभी त्याग नहीं करती।

प्रसाद ने पुरुष और नारी दोनों को सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों से देखा और परखा है और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यदि पुरुष अपनी परुषता, अहंकार, ईर्ष्या और स्वार्थ-भावना की संकीर्ण परिपाटी को छोड़कर श्रद्धा-भावना को अपनाते हुए विश्व-कल्याण के प्रशस्त पथ पर आगे बढ़े और नारी उसे सहयोग देती हुई अपने उदात्त गुणों—दया, माया, ममता, माधुर्य, सेवा, विश्वास, समर्पण, उदारता और करुणा के रत्न पथ पर लुटाती चले, तो सारे विश्व में आनन्द की वृष्टि हो सकती है। उन्होंने नारी में उस चेतन शक्ति की स्थिति पाई है जो पुरुष की कठोरता पर सम्पूर्ण सहृदयता से शासन करती हुई मन को अन्तर्मुखी करने में समर्थ होती है। कोमा का चरित्र इसी आधार पर विकसित हुआ है। यह बात दूसरी है कि वह अपने आदर्श से शकराज को प्रभावित नहीं कर पाई; किन्तु वह पाठक को प्रभावित किये विना नहीं रहती।

इतना ही नहीं, प्रसाद ने नारी को सर्वमंगला के रूप में भी देखा है। जीवन के पथ पर वह पुरुष की सहायिका रही है। विश्व का कल्याण केवल उसके हाथों ही सम्भव है। वह बुद्धि और हृदय का समन्वय कराते हुए वैषम्यपूर्ण वातावरण में सामंजस्य स्थापित कर सकती है। उसके द्वारा ही विश्वबन्धुत्व के आदर्श को व्यावहारिक स्वरूप मिल सकता है। प्रसाद की इस दार्शनिक नारी-कल्पना की पृष्ठभूमि में वैदिक साहित्य एवं शैव दर्शन के विशाल अध्ययन का सिंचित रस उदित हुआ है, जिसकी सरलता में वे नारी के वास्तविक महत्त्व को सही ढंग से समझा सके हैं। नारी की इस दार्शनिक अभिव्यक्ति के समानान्तर प्रसाद ने उसके प्रेम, सेवा तथा समर्पण सम्बन्धी आदर्श पर भी प्रकाश डाला है, जिसके परिणामस्वरूप जीवन के सभी पहलुओं मे उसकी श्रेष्ठता स्थापित हो गई है और वह सभी क्षेत्रों में पुरुष का नायकत्व-सा

पाश्चात्य प्रभाव / डॉ० विश्वनाथ मिश्र

प्रसाद के नाटकों में पाश्चात्य प्रभाव कुछ तो पाश्चात्य नाटककारों के सीधे सम्पर्क से, और कुछ बँगला नाटकों के माध्यम से आया है। पश्चिम के नाटककारों में शेक्सपियर और इब्सेन की रचनाएँ उन्होंने पढ़ी थीं, यह तो निश्चित रूप में स्वीकार किया जा सकता है। शेक्सपियर की रचनाओं का एक संग्रह प्रसाद की अपनी पुस्तकों में है। अपने निबन्धों में भी इस नाटककार का उन्होंने दो-एक स्थानों पर उल्लेख किया है[1]; इब्सेन का भी एक स्थान पर बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण है।[2] इन पाश्चात्य नाटककारों के अतिरिक्त वे अंग्रेज़ी-नाटककारों में मिल्टन और शॉ तथा एक रूसी नाटककार टॉल्स्टॉय से भी परिचित प्रतीत होते हैं। इसलिए प्रसाद ने पाश्चात्य नाटककारों से भी कुछ प्रभाव ग्रहण किया हो, यह पूर्णतः सम्भव है। शॉ ने अंग्रेजी में बौद्धिक विश्लेषणवादी नाटकों की परम्परा चलाई है; प्रसाद ने इस शैली का भी उपयोग अपने एक नाटक 'एक घूंट' में किया है। इसी आधार पर वे शॉ के नाटकों से भी परिचित थे, यह स्वीकार किया जा सकता है। बँगला नाटककारों में, प्रसाद के रचना-काल में, द्विजेन्द्रलाल राय एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं का विशेष प्रचार था और इनके अनुवाद भी किये जाने लगे थे। इनमें द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों पर तो शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी नाट्यकला का प्रभाव स्पष्ट है; रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं पर भी पश्चिम के प्रतीकवादी नाटकों का नया प्रभाव है। प्रसाद ने ये दोनों प्रभाव बँगला नाटकों के अध्ययन के माध्यम से ग्रहण किये। पश्चिम की नाट्यकला से, सीधे पाश्चात्य रचनाओं के अध्ययन तथा बँगला नाटकों में उसके उपयोग से, परिचित होने के साथ ही प्रसाद ने पाश्चात्य साहित्यिक विचारकों में अरस्तू, प्लेटो, हेगल आदि के नाटक अथवा कला सम्बन्धी विचारों का भी अध्ययन किया था।[3]

पश्चिम के इन नाटककारों का प्रभाव प्रसाद ने किस सीमा तक ग्रहण किया, इसकी विवेचना के लिए, उनके नाटकीय दृष्टिकोण का सम्यक् परिचय अपेक्षित है। प्रसाद स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति के साहित्यकार थे। यह मनोवृत्ति जीवन एवं साहित्य में आदर्शवाद तथा अतिनियमन की प्रवृत्ति के विरोध में मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करती है। इसी जीवन-दृष्टि की प्रेरणा

१-२. देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ११२-१३,११६।

३. प्रसाद ने अपने 'काव्य और कला', 'नाटकों में रस का प्रयोग' आदि निबन्धों में पश्चिम के इन विचारकों के मतों का उल्लेख किया है।

से प्रसाद ने अपनी नाटकीय रचनाओं में पूर्व और पश्चिम दोनों के शास्त्रीय नाट्य-सिद्धान्तों की उपेक्षा की। इस विद्रोह की भावना को लेकर जब वे अपनी स्वच्छन्द नाट्यकला का निर्माण करने लगे तो अंग्रेज़ी-नाटककार शेक्सपियर की रचनाओं में उसी प्रकार का प्रयास देखकर तथा बँगला के द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में, पश्चिम के इसी लेखक की प्रेरणा से नयी शैली का उपयोग पाकर, उन्होंने इन दोनों का प्रभाव अपनी रचनाओं में ग्रहण किया।

जहाँ तक 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रश्न है प्रसाद ने इस रचना में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में आधुनिक नारी के जीवन की एक समस्या का बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह एक समस्या-नाटक है; और इसके इस स्वरूप के पीछे पश्चिम के इसी कोटि के बुद्धिवादी नाटकों की प्रेरणा स्पष्ट प्रतीत होती है। पाश्चात्य साहित्य में इब्सेन ने किसी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत समस्या का विश्लेषण करनेवाले बुद्धिवादी नाटकों की परम्परा का सूत्रपात किया था। प्रसाद ने इब्सेन को पढ़ा था। इसके परिणामस्वरूप उनका निम्नलिखित वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है: "साथ ही सूक्ष्म और गम्भीर प्रभाव डालनेवाली इब्सेन की प्रेरणा भी पश्चिम में स्थान बना रही थी, जो नाटकीय यथार्थवाद का मूल है।"[१] इस वाक्य में पश्चिम के इस यथार्थवादी नाटककार की रचनाओं में रंगमंचीय स्वरूप के जिस सूक्ष्म और गम्भीर प्रभाव का उल्लेख किया गया है, वह निश्चित रूप से उसके नाटकों के अध्ययन के आधार पर लिखित है। प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में नारी-जीवन की जिस समस्या को लिया है, इब्सेन ने उसी को लेकर एक प्रेरणाप्रदायक और एक दुःखान्तकी, दो रचनाएँ लिखी थीं। प्रसाद ने इसमें किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में नारी के वैवाहिक बन्धन से मोक्ष ग्रहण करने की समस्या को उठाया है। इब्सेन ने 'द डॉल्स हाउस' (१८७९) में इस समस्या को खड़ा करके नारी के अपने पति और सन्तति को छोड़कर घर से बाहर निकल जाने में ही उसका हल दिखाया था। उनकी इस विद्रोह की भावना को जागरूक करनेवाली रचना का इतना विरोध हुआ कि उन्हें अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए एक दूसरी रचना 'घोस्ट्स' (१८८१) लिखनी पड़ी। इसमें उन्होंने एक अवांछनीय परिस्थिति में वैवाहिक बन्धन को न तोड़ पा सकने के कारण एक सम्पूर्ण परिवार का त्रासपूर्ण अन्त दिखाया है। प्रसाद ने सम्भवतः इन दोनों ही रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण की है।

इब्सेन ने पाश्चात्य नाटक में बुद्धि-तत्त्व की स्थापना के साथ एक नयी यथार्थवादी नाट्यशैली का भी सूत्रपात किया था। उन्होंने ही नाटक के प्रत्येक दृश्य के प्रारम्भ में विस्तृत रंग-संकेत देने की परम्परा चलाई। उनके रंग-संकेत कथावस्तु, चरित्र, मनोद्वेग आदि से पूर्णतः ग्रथित हैं; और अपनी प्रतीकात्मकता के सहारे इन विभिन्न नाटकीय तत्त्वों पर एक नया आलोक डालते हैं। प्रसाद ने इब्सेन की

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ११३।

रचनाओं के इस नये तत्त्व को भी अपनाया है। इसीलिए 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रत्येक दृश्य के प्रारम्भ में विस्तृत रंग-निर्देश दिये गये हैं। प्रसाद के इन रंग-निर्देशों में भी इब्सेन के रंग-संकेतों की भाँति प्रतीकात्मकता तथा विभिन्न नाटकीय तत्त्वों पर एक नया प्रकाश डालने की वृत्ति है। प्रथम दृश्य में ध्रुवस्वामिनी प्रकृति के स्वच्छन्द और मनोहर वातावरण में राजसी ठाठ-बाट के बीच बैठी हुई है। प्रकृति की स्वच्छन्दता उसे अपने को राजसी वैभव के अवांछनीय और कारागार-जैसे जीवन से मुक्त होने की प्रेरणा प्रदान करती है। दूसरा दृश्य एक दुर्ग के भीतर उपवन का है; जिसमें पौधों और लताओं का विकास उनकी नैसर्गिक स्वच्छन्दता को बाधित करके मनुष्य की इच्छा के अनुरूप होता है। प्रसाद ने कोमा के आदर्शवाद से आक्रान्त जीवन के स्वरूप का उद्घाटन करने के लिए इस पृष्ठभूमि की स्थापना की है। कोमा ने अपने प्रथम कथन में ही इस वातावरण के स्वाभाविक विकास को बाधित करनेवाली वृत्ति की ओर संकेत किया है।[1] तीसरे दृश्य में ध्रुवस्वामिनी अपने को पुनः सामाजिक आदर्श से आबद्ध पाती है; और उसके इसी बन्धनग्रस्त रूप की ओर संकेत करने के लिए प्रसाद ने उसे शक-दुर्ग के भीतर एक प्रकोष्ठ में बैठे हुए दिखाया है। प्रसाद के इस नाटक में ये तीन ही दृश्य हैं और इन्हें अंक कहा गया है। एक अंक में एक ही दृश्य की अवतारणा की शैली भी प्रसाद ने इब्सेन के ही नाटकों से ग्रहण की है। शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी नाटकों के एक अंक में अनेक दृश्यों की योजना की शैली को छोड़कर एक अंक में एक ही दृश्य को प्रस्तुत करना भी प्रसाद पर इब्सेन के निश्चित प्रभाव की सूचना देता है।

प्रसाद ने इब्सेन के नाटकों के इस बाह्य रूप को ग्रहण करने के साथ उनकी नाट्यकला की अन्तरंग विशेषताओं को भी ग्रहण किया है। इब्सेन के सुगठित नाटकों में कथावस्तु के उपसंहार भाग को ही लिया गया है। शेष कथा-भाग विभिन्न पात्रों के संवादों से यदा-कदा प्रकट होता रहता है। इस नाटकीय शैली को प्रत्यावर्त्तन अथवा सिंहावलोकन शैली (रेट्रास्पेक्टिव मेथड) कहा जा सकता है। इब्सेन का ध्यान अपनी रचनाओं में किसी कथानक अथवा चरित्र को प्रस्तुत करने की ओर नहीं, वरन् किसी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत समस्या के उद्घाटन और उसका हल उपस्थित करने की ओर रहा है। इसीलिए समस्याप्रधान कथावस्तु में जब समस्या तीव्र रूप ग्रहण करके चरित्रविशेष को अपना हल खोजने में तत्पर करती है, उसी स्थान से कथासूत्र को लेते हैं। इसी दृष्टि से 'द डॉल्स हाउस' में उन्होंने उसी स्थल के कथासूत्र को ग्रहण किया है, जब नोरा के जीवन में पहले से चला आ रहा अपने वैवाहिक जीवन के प्रति विद्रोह का भाव अत्यन्त तीव्र हो उठा। इसी प्रकार 'घोस्ट्स' में भी कथासूत्र को उसी स्थान से लिया गया है जब मिसेज़ एल्विंग को अपने पुत्र आस्वाल्ड में अपने पति

---

१. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी' पृष्ठ ३६-३७ पर कोमा की उक्ति : "इनमें फूल जैसे मुकुलित होकर ही रह गये हैं। खिलखिलाकर हँसने का मानो इन्हें बल नहीं।"

के उच्छृंखल चरित्र का आभास देखकर, सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए, अपने वैवाहिक सम्बन्ध को बनाये रखने के भयंकर दुष्परिणाम की तीव्र अनुभूति होती है। प्रसाद ने भी अपने इस नाटक का प्रारम्भ उसी स्थल से किया है, जब ध्रुवस्वामिनी के मन में अपने वैवाहिक जीवन के प्रति असन्तोष का भाव, उसके पति रामगुप्त के उसको शकराज के पास भेजने के लिए सहमत हो जाने पर, विद्रोह-भावना में परिणत हो गया है। ध्रुवस्वामिनी के जीवन के पूर्व-प्रसंग इब्सेन के नाटकों की सिंहावलोकन की शैली को लेकर विभिन्न चरित्रों के संवादों में यदा-कदा प्रकट किये गए हैं। प्रसाद ने इसी प्रकार चन्द्रगुप्त के ध्रुवस्वामिनी को बन्दिनी बनाकर लाने, उन दोनों के पारस्परिक आकर्षण, विवाह के अवसर पर रामगुप्त के द्राक्षासव में डूबे रहने आदि व्यतीत प्रसंगों को प्रस्तुत किया है।[1]

इब्सेन का नाटकीय दृष्टिकोण, शेक्सपियर की भाँति जीवन के व्यापक स्वरूप का उद्घाटन न होकर, समस्याविशेष का बौद्धिक विश्लेषण रहा है। इसीलिए उनकी रचनाओं में पूर्णतः समस्या से सम्बन्वित प्रसंग ही प्रस्तुत किए गए हैं। आधिकारिक कथा के साथ एक-आध प्रासंगिक कथा को उन्होंने भी संयुक्त किया है। उनके नाटकों में प्रासंगिक कथाएँ आधिकारिक कथा के समानान्तर उससे तुलनात्मक विरोध प्रकट करके समस्या को और निखारने के लिए उपयोग में लायी गयी हैं।[2] इसी रूप में नोरा और हेल्मर के प्रसंग के साथ, मिसेज़ लिंडन और क्रोग्स्ताद की कथा संयुक्त की गयी है। इनमें नोरा से सम्बन्वित प्रसंग तो वैवाहिक जीवन की असफलता का चित्र प्रस्तुत करता है; और मिसेज़ लिंडन की कथा में दाम्पत्य जीवन की सफलता की ओर संकेत किया गया है। प्रसाद ने भी इस शैली को ग्रहण किया है। ध्रुवस्वामिनी के जीवन में तो उन्होंने वैवाहिक जीवन की अवांछनीय परिस्थिति के प्रति नारी के सफल विद्रोह का चित्रण किया है। इस विद्रोह के स्वरूप को और निखारने के लिए इसके तुलनात्मक विरोध में कोमा के शकराज के प्रति आदर्शवादी स्नेह-भाव को प्रस्तुत किया गया है। वह शकराज को ध्रुवस्वामिनी की प्राप्ति के लिए लालायित देखकर भी उसके प्रति अनुरक्त बनी रहती है। प्रसाद ने उसके चरित्र में स्वाभाविकता लाने के लिए एक बार उसके द्वारा विद्रोह के भाव को प्रकट अवश्य कराया है, किन्तु जब वह शकराज का वध हो जाने के अनन्तर ध्रुवस्वामिनी से उसका शव माँगने आती है, तो उसका पूर्व-स्नेह पुनः जागरूक हो उठा है।

इब्सेन के नाटकों में यह तुलनात्मक विरोध का भाव कथावस्तु के साथ ही चरित्र-चित्रण में भी प्रकट हुआ है। नोरा और मिसेज़ लिंडन, हेल्मर और क्रोग्स्ताद, परस्पर विरोधी वृत्ति के चरित्र हैं।[3] प्रसाद के नाटक में चरित्र-चित्रण में यह तुलनात्मक विरोध का भाव ध्रुवस्वामिनी और कोमा, रामगुप्त और चन्द्रगुप्त,

---

१. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ १४, २६-३०, २६।

२-३. देखिए 'इब्सेन'स ड्रामेटिक टेकनीक', जे० आर० नार्थम, पृष्ठ २६, २६-३१।

शिखर-स्वामी और राजपुरोहित आदि में प्रकट हुआ है। चन्द्रगुप्त के एकनिष्ठ स्नेहभाव से शकराज की चंचल प्रेमवृत्ति का तुलनात्मक विरोध प्रकट किया गया है। मन्दाकिनी और ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में भी इसी प्रकार का कुछ विरोध-भाव है। मन्दाकिनी के मन में सफल दाम्पत्य जीवन की कल्पना स्पष्ट है; और उसी को लेकर वह अपने भीतर ही भीतर घुटनेवाली ध्रुवस्वामिनी से सचेष्ट होकर विद्रोह करने के लिए कहती है। ध्रुवस्वामिनी के मन में प्रारम्भ में विद्रोह की भावना होते हुए भी प्रत्यक्ष जीवन में हम उसे इसे अभिव्यक्त करने के लिए विशेष सशक्त नहीं पाते; मन्दाकिनी को सशक्त देखकर ही उसने अपने को सचेष्ट किया है। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के चरित्रों में भी परस्पर तुलनात्मक विरोध है। इन दोनों ही चरित्रों के मन में प्रारम्भ से ही अपने जीवन की अवांछनीय परिस्थितियों के प्रति विरोध का भाव है; किन्तु ध्रुवस्वामिनी में वह चन्द्रगुप्त से कहीं अधिक सबल है और वही चन्द्रगुप्त को भी समाज की लौह-शृंखलाओं को तोड़ने के लिए जागरूक करती है।

'ध्रुवस्वामिनी' में चरित्र-चित्रण में यह तुलनात्मक विरोध का भाव सबसे अधिक सशक्त रूप में ध्रुवस्वामिनी और कोमा के चरित्रों में प्रकट हुआ है। ध्रुवस्वामिनी विवाहिता होकर अपने पति से विद्रोह करती है; और कोमा शकराज से विवाहित न होते हुए भी उसके प्रति अनुराग रखने के कारण उसे अपने से विमुख और पर-स्त्री की प्राप्ति के लिए लालायित देखकर भी, उसका वध हो जाने पर उसका शव माँगने आती है। प्रसाद ने आगे चलकर इसी शव को ले जाते हुए रामगुप्त के सैनिकों के हाथ उसके वध की सूचना दिलायी है। इस प्रकार उसका वध दिखाकर प्रसाद ने रामगुप्त की नृशंसता प्रकट करने के साथ ही जैसे अपना मन्तव्य प्रकट किया है। कोमा-जैसी प्रेम के झूठे आदर्श में खोयी नारी का संसार के रंगमंच से चला जाना ही ठीक है। ध्रुवस्वामिनी में उन्होंने सजग व्यक्तित्व की बुद्धिवादी नारी के स्वरूप को प्रस्तुत किया है; और उसके चरित्र के इस रूप पर इब्सेन की नोरा की छाया स्पष्ट झलकती है।

इब्सेन के 'द डॉल्स हाउस' के प्रमुख नारी-चरित्र नोरा की स्वभावगत विशेषताएँ अपने व्यक्तित्व के प्रति सजगता, आत्मनिर्भरता की शक्ति, तर्कशील परिस्थिति, बुद्धिवाद आदि हैं और इन्हीं को लेकर उसने अपने जीवन की अनचाही अवांछनीय दाम्पत्य-जीवन की बन्धनयुक्त स्थिति से अपने को मुक्त किया है। प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में भी बहुत-कुछ यही स्वभावगत विशेषताएँ प्रकट हुई हैं। उसने भी अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए अपने पति से सहायता के लिए कहा है; किन्तु जब वह निश्चेष्टता ही नहीं प्रकट करता वरन् स्वयं उसे शक-शिविर में भेजने के लिए लालायित दिखाई देता है तो उसका आत्मबल जाग्रत होता है और वह कहती है: "मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।"[1] इब्सेन की नोरा में अपने को दाम्पत्य-जीवन से मुक्त करने का भाव उसी

---

१. ध्रुवस्वामिनी. पृष्ठ २७।

समय उग्र रूप ग्रहण करता है जब उसका पति उसके सम्मान की रक्षा करना अस्वी-
कार कर देता है। ध्रुवस्वामिनी में भी यह भाव इसी प्रकार के प्रसंग को लेकर प्रकट
हुआ है। नीरा के चरित्र की विद्रोही भावना उसके तर्कपूर्ण कथनों में प्रकट हुई है;
और ध्रुवस्वामिनी ने भी अपनी सतर्क उक्तियों से रामगुप्त से अपने मोक्ष अथवा
सम्बन्ध-विच्छेद को न्यायसंगत सिद्ध किया है।

इब्सन के बुद्धिवादी नाटकों की कुछ और भी विशेषताएँ हैं। उनका मूल
उद्देश्य जीवन के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना न होकर केवल एक विशिष्ट समस्या
का चित्रणमात्र है; और इसीलिए उन्होंने उस समस्या से पूर्णतः सम्बन्धित थोड़े-से
चरित्रों को ही लिया है। कथावस्तु के उपसंहार-भाग को ही नाटकीय रूप प्रदान करने के
कारण इन थोड़े-से चरित्रों का भी सम्पूर्ण विकास हमारे सामने नहीं आता, वरन् उनके
निश्चित स्वभाव की विशेषताओं का उद्घाटन होता है। कथानक के केवल अन्तिम भाग
को नाट्यरूप देने के कारण स्थान और काल के अनुबंधों का भी पूरी तरह से निर्वाह
हो गया है; इसी प्रकार एक समस्या अथवा एक प्रश्न पर ध्यान केन्द्रित होने के कारण
कार्यसंकलन की भी सफल अभिव्यक्ति हो गई है। प्रसाद ने इस नाटक में इब्सन के
नाट्यशिल्प की इन सभी प्रवृत्तियों को ग्रहण किया है; इसी आधार पर उनकी इस
रचना पर इस पाश्चात्य नाटककार का निश्चित प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है।

प्रसाद ने इब्सन के बुद्धिवादी नाटकों का इतना अधिक प्रभाव ग्रहण करके
भी शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी नाट्यकला के प्रभाव को पूर्णतः छोड़ा नहीं है; और
इसी प्रकार संस्कृत-नाट्यशास्त्र के भी प्रभाव को थोड़ा-बहुत बनाये रखा है। भारतीय
साहित्यशास्त्र के एक सम्मान्य प्रणेता महाशय विश्वनाथ ने एक स्थान पर आदेश
दिया है कि नाटककारों को अन्तःपुर के जीवन का चित्रण करते हुए वामन, कुब्जों आदि
को अनुचरों के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।[1] प्रसाद ने इसी आदेश का पालन
करते हुए ध्रुवस्वामिनी के कक्ष में बौने, हिजड़े और कुबड़े की अवतारणा की है; किन्तु
इन चरित्रों के द्वारा उन्होंने जिस अपूर्व हास्य की सृष्टि की है, उसमें उनकी अपनी
साहित्यिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति है। शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी नाट्यकला का
प्रभाव इससे कहीं अधिक है; और विभिन्न नाटकीय तत्त्वों—कथानक से लेकर चरित्र-
चित्रण, मनोवेगों की अभिव्यक्ति, रचना-शैली आदि—में परिलक्षित है। कथावस्तु में
यह प्रभाव भारतीयों और शकों के मध्य के ऐतिहासिक प्रसंग के ग्रहण में प्रकट हुआ
है, जिसमें दो हत्याएँ, शकराज और रामगुप्त की, तो रंगमंच पर ही होती हैं, और दो
की, कोमा और उसके पिता मिहिरदेव की, सूचना दिलायी गयी है। इब्सन ने अपनी
बुद्धिवादी रचनाओं से इस प्रकार के हत्या-प्रसंगों को अलग कर दिया था; इसलिए
प्रसाद द्वारा इनका ग्रहण किये जाना शेक्सपियर की नाट्यकला के प्रभाव को इस
रचना में बनाये रखने के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। चरित्र-चित्रण

१. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद, कारिका ८३।

में शेक्सपियर का प्रभाव रामगुप्त और शकराज में खलनायक की वृत्तियों को दिखाने में प्रकट हुआ है। मनोद्वेगों में शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटकों में वीर-भावना प्रधान है: प्रसाद ने चन्द्रगुप्त के साथ ही बुद्धिवादी नारी ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में भी इसकी स्थापना की है। मानव-क्रिया-कलाप के पीछे नियति की अदम्य प्रेरणा प्रसाद ने इस नाटक में भी दिखाई है। इसी प्रकार एक स्थल पर नाटकीय व्यंग्य का भी प्रयोग है। इस संदर्भ में आकाश की ओर देखते हुए मिहिरदेव का यह कथन द्रष्टव्य है: "वह देख नील लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है।"[1] इस रचना का अन्त भी शेक्सपियर के मिश्रान्तकियों की भाँति अश्रु और हास से समन्वित प्रतीत होता है। रामगुप्त तो खलनायक है और उसकी मृत्यु सर्वथा उचित है; फिर भी एक शव के समीप खड़े होकर न्याय-पक्ष के विजेता का जयघोष भी पूर्णतः आनन्द की भावना का सृजन नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त अभी कुछ क्षण पहले ही कोमा और उसके पिता के बिना किसी अपराध के मारे जाने का जो समाचार आया है, उसके गहरे विषाद को कैसे भुलाया जा सकता है! इसी-लिए यह नाटक शेक्सपियर के मिश्रान्तकी नाटकों की कोटि की ही रचना है। इसके साथ ही प्रसाद ने अन्त में ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष का प्रसंग उपस्थित करके इब्सेन के बुद्धिवादी नाटकों की भाँति एक नयी जीवन-दृष्टि उत्पन्न करने के उद्देश्य को भी सफ-लता के साथ अभिव्यक्त किया है।

पश्चिम के बुद्धिवादी नाटककार इब्सेन का प्रभाव प्रसाद के अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' पर ही व्यापक रूप से मिलता है। अन्य रचनाओं में उसकी यदा-कदा झलकमात्र है। इस नाटक में कथावस्तु के उपसंहार-भाग को लेकर, पश्चात्वर्तन अथवा सिंहावलोकन शैली के सहारे शेष कथा-भाग को प्रस्तुत किया गया है, जो इब्सेन का ही अनुकरण है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या के बौद्धिक विश्लेषण में भी इस नाटककार का प्रभाव है। प्रतीकात्मक रंग-निर्देश-प्रणाली का भी उपयोग इस रचना में इसी प्रभाव को लेकर किया गया है। इब्सेन का इतना व्यापक प्रभाव ग्रहण करके भी प्रसाद ने शेक्सपियर की स्वच्छन्दता-वादी नाट्यकला के प्रभाव को छोड़ा नहीं है; और वह जीवन के संघर्षमय स्वरूप के चित्रण तथा रंगमंच पर वध के दृश्यों की अवतारणा में प्रकट हुआ है।



१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २८।

समस्या-नाटक

डॉ० जगदीशप्रसाद मिश्र

'ध्रुवस्वामिनी' विशेष परिस्थिति में नारी के मोक्ष की समस्या से सम्बन्धित प्रसाद की अन्यतम कृति है। इधर आलोचकों ने इसके सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किया है कि यह समस्या के समावेश के कारण एक समस्या-नाटक है। यह धारणा इस बात का संकेत देती है कि वे समस्या-नाटक के वास्तविक स्वरूप और शिल्प से अनभिज्ञ हैं। यदि केवल समस्या अथवा उसका समाधान प्रस्तुत कर देने से कोई नाटक समस्या-नाटक कहलाने का अधिकारी होता तो सभी नाटक आज समस्या-नाटक नाम से अभिहित होते; क्योंकि सभी नाटक किसी न किसी समस्या से सम्बन्धित होते हैं।

डॉ० विश्वनाथ मिश्र ने यह विचार व्यक्त किया है कि प्रसाद ने इब्सेन को पढ़ा था और उन्होंने अपने इस नाटक में जिस नारी-जीवन की समस्या को लिया है, इब्सेन ने भी उसी प्रकार की समस्याएँ लेकर नाटय रचना की थी।[1] डॉ० मिश्र को यह सूत्र सम्भवतः डॉ० डी० के० लाल श्रीवास्तव से हाथ लगा था जो इसके पूर्व बिना किसी आधार के इसी धारणा को व्यक्त कर चुके थे।[2] किंतु, यह धारणा एक बहुत बड़ी भ्रांति पर आधारित है। यह सत्य है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में विवाह-मोक्ष की समस्या का समावेश है, किन्तु प्रसाद ने समस्या का निरूपण ठीक वैसा ही नहीं किया है, जैसा इब्सेन के विचारप्रधान नाटकों में मिलता है।

पहली बात यह है कि प्रसाद कोई नई समस्या प्रस्तुत करते नहीं दिखाई देते। वे केवल एक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य को प्रस्तुत करते हैं और उसे अपनी समृद्ध कल्पना-शक्ति से पुनर्जीवित करते हैं। रामगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की कथा को जिस रूप में उन्होंने इस नाटक में स्वीकार किया है, उसे सुप्रसिद्ध संस्कृत-नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के अंशों से लिया है और वह राखालदास बनर्जी, प्रो० अल्टेकर, जायसवाल, भंडारकर आदि इतिहासकारों की खोजों और प्रमाणों से पुष्ट है।

दूसरी बात यह कि इब्सेन ने नाटक के रचना-तंत्र में यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया कि वे वाद-विवाद को नाटक के अन्तिम अंक में स्थान देते हैं।[3] इस वाद-विवाद और विचार-विमर्श का आधार पूर्णतः बौद्धिक और यथार्थवादी चिन्तन है। किन्तु,

---

१. देखिए 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव', डॉ० विश्वनाथ मिश्र, पृष्ठ २५६।

२. देखिए 'द इन्फ्लुएंस ऑफ़ इंगलिश ड्रामा ऑन मॉडर्न हिन्दी ड्रामा', इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० की अप्रकाशित थीसिस, डॉ० डी० के० लाल श्रीवास्तव, १९५१, पृष्ठ १४३।

३. देखिए 'द क्विंटेसेंस ऑफ़ इब्सेनिज़म', जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, पृष्ठ १३५।

प्रसाद का विषयवस्तु का प्रतिपादन न बौद्धिक है और न यथार्थवादी। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'ध्रुवस्वामिनी' के अंतिम अंक में भी एक प्रकार का विवाद है, किन्तु उसकी प्रेरणा नारद, पाराशर और कौटिल्य-सूत्रों से प्रस्फुटित हुई है।[1] इब्सेन की विशेषता यह है कि समस्या की व्याख्या, विवेचन और विवाद में वे हमारे मन पर यह प्रभाव डाले बिना नहीं रहते कि व्यक्ति की आत्मा सामाजिक रूढ़ियों की कारा में बंदिनी है, जो अवैयक्तिक शक्ति—नियति—की भाँति उसे नियंत्रित रखती है। प्रसाद के साथ स्थिति भिन्न है। यदि चन्द्रगुप्त सामाजिक रूढ़ियों के कारण पीड़ित होता है तो उनसे वह लाभान्वित भी होता है। समाज उसके विरुद्ध नहीं, वरन् उसके साथ है। खल-नायक रामगुप्त सत्तारूढ़ होने के कारण परिस्थिति की उपेक्षा करता है, किन्तु परिणामों को भुगतने के लिए बाध्य है, क्योंकि समाज का निर्णय उसके विरुद्ध है। जहाँ तक इब्सेन का प्रश्न है, उन-जैसे समस्या-नाटककार सदा विचारशील प्रवृत्ति का अनुसरण करते हैं तथा मानव-दुर्बलताओं और यंत्रणाओं के प्रति उनके मन में संवेदना का भाव दिखाई देता है। उनका कठोर तर्क भावुकता और कल्पना को निष्क्रिय और निर्जीव बना देता है। फलतः समस्या-नाटकों में 'स्वच्छन्दतावादी छिछोरेपन' के लिए कोई स्थान नहीं होता; किन्तु प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' भावुकता और काव्यात्मकता से परिपूर्ण है। नायिका ध्रुवस्वामिनी के आरंभिक संवादों को इसके लिए प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रस्तुत नाटक में चार गीतों का समावेश भी हुआ है जो भावुकता को प्रश्रय देते हैं। मंदाकिनी के चरित्र में भी एक प्रकार की ऐसी स्निग्धता है जो शेक्सपियर के कुछ नारी पात्रों की विशेषता है।

तीसरी बात जो 'ध्रुवस्वामिनी' के समस्यानाटकत्व के मार्ग में शंका उपस्थित करती है, वह यह है कि समस्या-नाटक एक विचारप्रधान नाटक के रूप में प्रायः किसी संकट से आरंभ होता है और पूर्वकथा को प्रत्यावर्तन अथवा प्रतिगामी विधि से प्रस्तुत करता है; किन्तु प्रसाद अपने नाटक के रचना-तंत्र में नाटक की पाँच कार्यावस्थाओं से आबद्ध दिखाई देते हैं।[2]

चौथा तर्क यह है कि स्वच्छन्दतावादी नाटकों की अपेक्षा समस्या-नाटक जीवन के बाह्य संघर्ष की उपेक्षा करते हैं, जबकि 'ध्रुवस्वामिनी' में ऐसे संघर्ष का बाहुल्य है—प्रथम अंक का प्रथम दृश्य ही युद्ध-शिविर से प्रारम्भ होता है। दूसरे अंक के अन्तिम भाग में भी शकराज और चन्द्रगुप्त का संघर्ष निहित है, जिसके परिणामस्वरूप शकराज की मृत्यु होती है। इसी प्रकार तीसरे अंक के मूल में भी 'कार्य' का वह रूप है जो अन्ततः रामगुप्त की हत्या में पूर्णता को प्राप्त करता है।

इसी के साथ अंत में यह भी विचारणीय है कि विचारप्रधान नाटक में स्वगत,

---

१. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', सूचना, पृष्ठ ५-७।

२. देखिए 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पृष्ठ १८६-१८८।

जनांतिक आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता तथा उत्तेजनापूर्ण घटनाओं को भी महत्त्व नहीं दिया जाता।[1] प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' में अनेक स्वगतकथन हैं और नाटक की कथावस्तु अनेक उत्तेजनापूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण है। वस्तुत: प्रसाद ने समस्या पर बल देने की अपेक्षा मानवीय मूल्यों पर अधिक बल दिया है। इस प्रकार वे इब्सेन की अपेक्षा शेक्सपियर के अधिक निकट जान पड़ते हैं। इब्सेन के प्रभाव को यद्यपि स्वीकार करना चाहें तो इस रूप में कर सकते हैं कि प्रसाद ने एक अंक में एक ही दृश्य का विधान किया है और प्रत्येक दृश्य के साथ पर्याप्त रंग-संकेत दिए हैं।

डॉ० विश्वनाथ मिश्र ने 'ध्रुवस्वामिनी' पर इब्सेन के 'द डॉल्स हाउस' के प्रभाव की चर्चा इन शब्दों में की है : "प्रसाद ने अपने इस नाटक में किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में नारी के वैवाहिक बंधन से मोक्ष ग्रहण करने की समस्या को उठाया है। इब्सेन ने 'द डॉल्स हाउस' (१८७९) में इस समस्या को खड़ा करके नारी के अपने पति और संतति को छोड़कर घर से बाहर निकल जाने में ही उसका हल दिखाया था।"[2] इस प्रकार वे यह कहना चाहते हैं कि प्रसाद की प्रेरणा का मूल स्रोत इब्सेन के नाटक थे और दोनों ने एक ही समस्या का चित्रण किया है। यह विचित्र जान पड़ता है। वस्तुत: प्रसाद का नाटक किसी विशिष्ट परिस्थिति में विवाह-मोक्ष की समस्या पर विचार करता है, जबकि इब्सेन के नाटक में यह समस्या है ही नहीं। इब्सेन के नाटक का मुख्य विषय ऐसी नारी के मन में वैयक्तिक उत्तरदायित्व की भावना का जागरण है जिसके साथ बिगड़े बच्चे का-सा व्यवहार किया गया है। उसका विषय नारी के वैयक्तिक आत्म-विकास के अधिकार पर केन्द्रित है। प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में बाह्य और ऐतिहासिक तथ्यों पर बल दिया है—ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है, किन्तु रामगुप्त के साथ विवाह करने को बाध्य होती है। दूसरी ओर इब्सेन 'द डॉल्स हाउस' में आन्तरिक परिस्थितियों को मुख्यता प्रदान करते हैं—टोरवाल्ड हेल्मर का नोरा स्वयं वरण करती है, किन्तु वह महसूस करती है कि वह उससे एक गुड़िया-जैसा व्यवहार करता है। इसके अतिरिक्त 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक ही नहीं, राजनीतिक समस्या भी है। उसमें एक ओर ध्रुवस्वामिनी के विवाह-मोक्ष का प्रश्न है तो दूसरी ओर एक अन्यायी, विलासी और क्रूर राजा के राज्याधिकार से मुक्ति का प्रश्न भी जुड़ा है।

'प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी' में दो समानांतर कथाएँ दी हैं—एक आधिकारिक कथा जो ध्रुवस्वामिनी से सम्बन्धित है और दूसरी प्रासंगिक, जिसका आधार कोमा है। दोनों कथाएँ विषम हैं। मुख्य कथा की तुलना में एक भिन्नविषय प्रासंगिक कथा की योजना करके भी प्रसाद ने उपर्युक्त प्रश्नों को विश्रांति दी है। इब्सेन अथवा शॉ के समस्या-नाटकों में ऐसी नाट्ययोजना का अभाव है। प्रसाद ने कोमा और शकराज के प्रणय-

---

१. देखिए 'इब्सेन'स ड्रैमेटिक टेक्नीक', पी० एफ० डी० टेनेंट।

२. हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव, पृष्ठ २५६-५७।

प्रसंग की अवतारणा द्वारा मुख्य कथावस्तु पर टिप्पणी ही नहीं की है, वरन् उसके प्रभाव को भी और गहरा किया है। यही नहीं, चरित्र-चित्रण में इससे वैषम्य की सृष्टि की गई है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के अनन्य प्रेम की तुलना में शकराज और कोमा का प्रेम पृथक् दिखाई देता है। इसलिए यह कहना कि प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' पर इब्सेन के समस्या-नाटकों का प्रभाव है, उचित न होगा।



विचारधारा

डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद का चिन्तन उनकी अन्य नाट्यकृतियों और नाट्येतर रचनाओं में व्यक्त चिन्तन से पर्याप्ततः भिन्न और विकसित है। 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद अपने युग के प्रति अधिक सजग, आदर्शवादिता से लगभग मुक्त और आधुनिकता से घनिष्ठतः सम्पृक्त हैं। यों उनके अधिकतर नाटकों और प्रतिनिधि काव्यकृति 'कामायनी' में अतीत के माध्यम से वर्तमान की स्थिति और चेतना प्रतिबिम्बित है। 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने वर्तमान को, समसामयिक नारी-जीवन के एक ज्वलन्त प्रश्न को (यह प्रश्न पुराकालीन नारी से भी सम्बद्ध है), बहुत-कुछ प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' उनकी प्रौढ़कालीन और प्रौढ़तम नाट्यकृति है। अतः इसमें व्यक्त जीवन-दर्शन उनकी दीर्घकालीन विचार-साधना और जीवनानुभव के सार-रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए।

विवेच्य नाट्यकृति में प्रसाद के नारी सम्बन्धी विचार काफ़ी परिवर्तित हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' की नारी 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' की नारी से एकदम भिन्न नहीं तो बहुत-कुछ भिन्न अवश्य है। प्रसाद के नाट्यजगत् की जो नारी पति से कोई "विवाद नहीं करना चाहती" और "जैसी प्रभु की इच्छा" में विश्वास करती है उससे 'ध्रुवस्वामिनी' की नारी का कोई साम्य-सम्बन्ध नहीं है। निस्सदेह 'ध्रुवस्वामिनी' में नारी के सामने क्लीव, अयोग्य और संशयालु पति से निपटने की—पत्नी को शत्रु को सौंपकर उससे मुक्ति पा लेने के अभिलाषी अत्यन्त निकृष्ट कोटि के व्यक्ति के साथ निर्वाह करने की—समस्या है और इसलिए विक्षोभ-विद्रोह से परिव्याप्त इस नारी पात्र का चरित्र सर्वथा स्वाभाविक, सजीव और स्पृहणीय है। यह नारी-मूर्ति आद्यन्त हमारी सहानुभूति और श्रद्धा का भाजन बनी रहती है। परन्तु पति के प्रति तीव्र विद्रोह, धर्म-व्यवस्था और समाज के सम्बन्ध में उग्र आक्रोश और प्रेम-प्रसंग में साहसिकता होने से वह सामान्य परम्परा-निष्ठ भारतीय नारी और प्रसाद के शेष साहित्य की विनम्र, सहिष्णु और अल्पभाषिणी नायिकाओं की आदर्श परम्परा से विच्छिन्न है और आधुनिक नारी के सन्निकट है।

ध्रुवस्वामिनी ही नहीं, मंदाकिनी और कोमा भी नारी के सम्मान, स्वाभिमान, सामाजिक प्रतिष्ठा और अधिकारों की रक्षा के लिए लगभग उतनी ही सजग और सुदृढ़ हैं और प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः लगभग उतनी ही सचेष्ट हैं जितनी पुरुष-वर्ग से रुष्ट आधुनिक नारी। नारी के इस आन्दोलन में मंदाकिनी ध्रुवस्वामिनी की सहयोगिनी है। कोमा उससे दूर और पृथक् है। परन्तु परस्त्री में अनुरक्त, परपरिणीता को उसके पति से छीनकर अपनी पर्यंक-शायिनी बनाने के उत्सुक प्रेमी का, उसे विपद्ग्रस्त देखकर

भी, कठोरता से तिरस्कार और परित्याग कर चली जानेवाली वह स्वाभिमानिनी नारी आज की बुद्धिवादिनी अहम्मन्य नारी से बहुत भिन्न नहीं है।

ध्रुवस्वामिनी में मल्लिका, देवसेना और श्रद्धा जैसी सहिष्णुता, विनम्रता और सरलता नहीं है। उन-जैसा आत्म-संकोचन और आत्म-हनन उसमें नहीं है। 'नारी, तुम केवल श्रद्धा हो' कहनेवाले प्रसाद ने उसके माध्यम से 'नारी, तुम केवल नारी हो; तुम रहो मानवी बनकर ही, देवी न बनो, देवी न बनो; अतिचार और अन्याय पुरुष का नहीं कहीं तुम सहन करो' का संदेश दिया है। लगता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना के समय प्रसाद के अन्तर्मन में 'श्रद्धा' की अव्यावहारिकता और युगप्रतिकूलता की चेतना व्याप्त रही है। प्रसाद ने मान लिया है कि अपने दुर्भाग्य को स्वीकार कर पुरुष का अतिचार सहन करनेवाली, उसके पाँवों में पड़ी रहनेवाली नारी आत्म-हनन का अपराध करती है। 'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता' का जो पुरुष-व्यक्तित्व है उसके चरण में न लोटकर नारी को अपने प्राणों की क्षमता बढ़ाकर उसके अनुचित अहं और औद्धत्य को तोड़ना चाहिए। प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर नारी आत्मरक्षा और आत्मोन्नयन में समर्थ ही नहीं, दूसरे की प्रगति का अवलम्ब भी बन सकती है। शक्ति-सम्पादन के साथ अनाचार और अतिचार का विरोध भी—अन्याय के विरुद्ध संघर्ष भी—आवश्यक है। ध्रुवस्वामिनी प्रारंभ में ही कहती है: "पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है।"[1] जिस पुरुष (अथवा अपुरुष) को वह मन से अपना पति स्वीकार नहीं कर सकी, जिससे उसका मन नहीं मिला, उसके 'विलास की सहचरी होना' उसे स्वीकार नहीं है। उसका अहं उसके सामने झुकना नहीं चाहता।

परन्तु दुर्बलता और भावुकता से वह मुक्त नहीं है। जिससे वह घृणा करती है उस अतिचारी क्लीव नर के सामने, विवशता में और क्षण भर के लिए ही सही, वह शरण की प्रार्थिनी बनती है, घुटने के बल बैठती है, उसके पैर पकड़ती है। परन्तु इतना झुकने पर भी जब वह नर (अथवा 'किन्नर') उसे उपहार की वस्तु बताकर परपुरुष के पास जाने की आज्ञा देता है तो वह अत्यन्त रुष्ट और आविष्ट होकर उसे निर्लज्ज और क्लीव कहकर उसकी भर्त्सना करती है। 'मुझमें आत्म-सम्मान की ज्योति है, उसकी रक्षा मैं ही करूँगी' कहती हुई वह अपनी उग्रता, अन्तर्हित शक्ति और स्वावलम्ब-भावना का परिचय देती है। उसका यह रूप आधुनिक नारी के एकदम निकट है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि अपने परम्परागत संस्कारों को वह झटका देकर दूर नहीं फेंक सकी है। चन्द्रगुप्त के प्रति उसमें जो प्रणय है उसके सम्बन्ध में उसे 'यह मानसिक पाप तो नहीं है' यह शंका निरन्तर बनी रहती है। आत्मघात का भी संस्कार उसमें है। परन्तु इस क्षणिक दुर्बलता पर नियंत्रण करके वह चन्द्रगुप्त के आने पर जीवित रहने की कामना प्रकट करती है: 'मैं न मरूँगी, क्योंकि तुम आ गये हो। जीवन असह्य हो

---

१. ध्रुवस्वामिनी, सत्रहवाँ संस्करण, पृष्ठ २६।

वह जीवन भर का अटूट सम्बन्ध मानने को तैयार नहीं। ध्रुवस्वामिनी को ही नहीं, मंदाकिनी को भी परम्परागत भारतीय धर्म-व्यवस्था और उसके विधि-निषेधों के प्रति अनास्था है : "आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म-वन्धन में बाँधकर, उनकी सम्मति के विना आप उनका सव अधिकार छीन लेते हैं, तव क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्व माँग सकें ? क्या भविप्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रहने की आज्ञा देकर विश्राम ले लेते हैं ?"[१] उसका विचार है कि नारी की हीनावस्था का कारण पुरुषों की स्वार्थ-भावना और उनका अतिचार है : "भगवान् ने स्त्रियों को उत्पन्न करके ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है। किन्तु तुम लोगों की दस्यु-वृत्ति ने उन्हें लूटा है।"[२]

पुरुष की दृष्टि में नारी की भावनाओं का, उसके प्रणय, तपस्या और वलिदान का कोई मूल्य नहीं। वह 'सदैव ही उसको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है।' इसलिए मंदाकिनी और ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से उसके लिए प्रसाद का संदेश है कि 'यह वावली पुरुषों के चरणों को न पकड़े', पराधीनता की जो भावना उसकी नस-नस में व्याप्त है, उसे त्याग दे, सवल तथा स्वावलम्वी वने और आवश्यक होने पर 'कील की तरह गड़नेवाले शास्त्र के वैवाहिक मंत्र' को भी निकाल फेंके।

मंदाकिनी के नाम से प्रसाद कहना चाहते हैं कि किसी पुरुप को प्यार करने-वाली स्त्री यदि अनिच्छा से किसी अन्य अयोग्य पुरुप से वाँध दी गई है तो उस पुरुप को 'हृदय में नैतिक साहस वास्तविक प्रेरणा और पौरुप की पुकार एकत्र करके' उस स्त्री को उसके पति से मुक्त कर अपनी जीवन-सहचरी बना लेना चाहिए। ऐसी स्थिति में प्रेमी पुरुप का अपनी प्रणयिनी को उसके भाग्य पर छोड़ देना 'शील का कपट, मोह और प्रवंचना' है। इस प्रकार आदर्शवादी प्रसाद यहाँ यथार्थवाद के निकट आकर मानव को आदर्श के मिथ्या शील से मुक्त, अनावृत्त और सहज होने की प्रेरणा देते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' का कथ्य, उसकी मूल भावना यही है कि मानव को धर्मभीरुता, समाजभीरुता, खोखले आदर्शवाद और झूठे शील-संकोच को त्यागकर, उन्मुक्त होकर वास्तविकता को स्वीकार करना चाहिए और आरोपित वंधनों तथा तज्जन्य दुःख से मुक्ति पाकर अपना जीवन सुखी वनाना चाहिए।

'ध्रुवस्वामिनी' के प्रणेता का कहना है कि पुरुप के अतिचार से नारी यदि निर्लज्ज हो जाए और अपशब्दों का भी प्रयोग करे तो इसका दायित्व पुरुप पर ही है, क्योंकि वह "स्त्री की लज्जा लूटनेवाला दस्यु है।"[३] वस्तुतः प्रसाद ने नारी को विद्रोह करने की, अपने सम्मान और अधिकारों के लिए उग्र से उग्र रूप धारण करने की, अनुज्ञा दी है। 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रणयन-काल में प्रसाद आधुनिक नारी-भावना और

१-२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५४, ६२, ६०।

नारी-आन्दोलन से पर्याप्ततः प्रेरित-प्रभावित रहे हैं। उनकी यह नाट्यकृति अतीत के माध्यम से समसामयिक नारी-आन्दोलन की झाँकी प्रस्तुत करती है। असम (अनुचित) विवाह की समस्या को उठाकर प्रसाद ने विवाह-पद्धति और पति-पत्नी-सम्बन्ध पर आधुनिक युग के संदर्भ में विचार करते हुए उसका युगानुकूल समाधान प्रस्तुत किया है। सम्वन्ध-विच्छेद ही इस समस्या का समाधान है। "स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग विवाह है।"[१] और यदि विवाह का रूप ऐसा नहीं है, यदि स्त्री को अपने कर्त्तव्य को न निभानेवाला, क्लीव, अयोग्य, प्रेम तथा विश्वास न करनेवाला पति प्राप्त हुआ है तो उसे भारतीय धर्मशास्त्र के अनुसार भी ऐसे विवाह-वंधन से मुक्ति पाने का अधिकार है।

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद की भावना बहुत-कुछ प्रगतिशील और युगानुकूल है। परन्तु धर्मशास्त्र और सामाजिक मर्यादा में उनकी आस्था और इनके प्रति उनकी भीरुता समाप्त नहीं हुई है। धर्मशास्त्र के विधानों की उपेक्षा करने का साहस उनमें नहीं है। पति की मृत्यु होने पर ही स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है, धर्मशास्त्र के इस आदेश का पालन करने के लिए ही उन्होंने सामन्तकुमार द्वारा रामगुप्त की हत्या कराई है। निश्चय ही इससे धर्मशास्त्र और गुप्तकुल की मर्यादा की रक्षा हुई है, भारतीय आदर्श का निर्वाह किसी तरह हो गया है। परन्तु आधुनिक युग के संदर्भ में लिखे गये नाटक में न यह आवश्यक है, न बहुत उचित। तृतीय अङ्क में ध्रुवस्वामिनी की जिस विद्रोह-मयी मनःस्थिति, चन्द्रगुप्त के प्रति प्रणय और उसे जीवन-साथी के रूप में प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा[२] की अभिव्यक्ति हुई है उसे देखते हुए और उसके साथ चन्द्रगुप्त की भावनाओं को लक्ष्य करके यह कहा जा सकता है कि रामगुप्त की मृत्यु न हुई होती तो भी उसका रामगुप्त से सम्बन्ध-विच्छेद और चन्द्रगुप्त से विवाह अवश्यं-भावी था। अधिक अच्छा होता यदि रामगुप्त के जीवित रहते हुए ही इन दोनों को परिणय-सूत्र में आवद्ध होते दिखाया जाता। परन्तु प्रसाद की कला-चेतना ने मर्यादा के इस उल्लंघन को स्वीकार नहीं किया।[३]

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५४।

२. ध्रुवस्वामिनी को प्रारम्भ से ही चन्द्रगुप्त से प्रेम है। यह कहना ठीक नही कि चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के हृदय में आरम्भ में सद्भावना है, अनुरक्ति नहीं, "उसके परिचय के लिए उत्कण्ठा, उसके भविष्य की चिन्ता और सुरक्षा की जिज्ञासामात्र है। अनुराग के अंकुर तव फूटते हैं जब कि वह शक दुर्ग को भेज दी जाती है।" (डॉ॰ चक्रवर्ती, प्रसाद की दार्शनिक चेतना, १९६५, पृष्ठ ४८८-४८९) वास्तव में उसके हृदय में प्रारम्भ से ही चन्द्रगुप्त के प्रति प्रणय-भाव रहा है।

३. डॉ॰ चक्रवर्ती का यह कथन कि प्रसाद ने नारी की इस समस्या को "धर्मशास्त्र के विधानों की छाया में इस तरह प्रस्तुत किया है कि तथाकथित शाश्वत धर्मवंधन की शृंखलाएँ टूटकर गिर गई हैं" (वही, पृष्ठ ४८६) बहुत-कुछ ठीक है। परन्तु

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अनिच्छित अनुचित विवाह की समस्या के साथ अयोग्य शासक की समस्या को भी प्रसाद ने इस नाटिका में उपस्थित किया है। शासक यदि दुर्बल, अतिचारी और अनाचारी है तो जनता को चाहिए कि उसे अपदस्थ करके योग्य व्यक्ति को शासन-भार सौंपे, यह प्रसाद की सुनिश्चित मान्यता है। इस दृष्टि से भी प्रसाद ने सामयिक सजगता—आधुनिक बोध—का पूरा परिचय दिया है। अयोग्य और अत्याचारी शासक के विरुद्ध जनता का क्षोभ और विद्रोह इस नाटिका के अंतिम अङ्क में व्यक्त हुआ है।

परन्तु विद्रोह, कर्मण्यता और संघर्ष की भावना से परिपूर्ण इस नाट्यकृति में भी प्रसाद अपना नियतिवाद नहीं छोड़ सके हैं। 'जीवन नियति के कठिन आदेश पर चलेगा ही', 'नियति ने अज्ञात भाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन से सायंकालीन शीतल आकाश में मिला दिया हो', इन शब्दों द्वारा वे यहाँ भी ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से नियति में अपनी आस्था प्रकट करते हैं। परन्तु उतने कठोर नियतिवादी वे अब प्रतीत नहीं होते जितने इस रचना के पूर्व रहे हैं। उनकी ध्रुवस्वामिनी नियति से संघर्ष करके अपने भाग्य को बदलने का, अपने दुःखी जीवन को इच्छानुसार परिवर्तित करके सुखी बनाने का यत्न करती है और उसमें सफल होती है। प्रसाद का नियतिवाद प्रारम्भ से ही कर्मण्य नियतिवाद रहा है। उसके पात्र नियति में विश्वास करते हुए भी कर्मण्य हैं। विवेच्य नाट्य-कृति में कर्मण्यता की भावना कुछ अधिक तीव्र और नियतिवादिता का आग्रह कुछ कम कठोर है।

वस्तुतः 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद छायावादी रोमानी और आदर्शवादी प्रवृत्ति से बहुत-कुछ मुक्त और यथार्थवादी प्रगतिशील भावना के काफ़ी निकट हैं। भाग्य में विश्वास करते हुए अपने दुर्भाग्यपूर्ण जीवन को स्वीकार करके अकर्मण्य विषाद, उथली मूर्खतापूर्ण भावुकता, नैराश्य और घुटन में डूबे रहनेवाले यंत्रणाग्रस्त मानवों को उनकी यह रचना 'दैवं निहत्य कुरु पौरुषं आत्मशक्त्या', विवेकपूर्ण जीवनयापन, आशा और उल्लास का संदेश देती है। नाटककार की दृष्टि पूर्णतः भावात्मक (पॉज़ीटिव) है। निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति पर—संतुलित-स्वस्थ भोग पर—ही प्रसाद का आग्रह रहा है। दुःख के झीने पर्दे को विदीर्ण करके, उसके पीछे छिपी सुख की द्युतिमान् मणियों को संचित करके, आनन्द का जीवन जीने में उनका निरन्तर विश्वास रहा। यहाँ भी उनकी यही प्रवृत्तिवादी—आनन्दवादी—दृष्टि है; आधुनिक संदर्भों से सम्पृक्त, जीवनाग्रही दृष्टि। विवेच्य नाटिका में कोई दर्शन—किसी प्रकार की दार्शनिकता या आध्यात्मिकता—नहीं है, पार्थिव जीवन के ही कुछ ज्वलन्त प्रश्न उचित समाधान के साथ प्रस्तुत किये गये हैं।



(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

एक ओर धर्मशास्त्र के प्रति विद्रोह और दूसरी ओर उसके विधानों का पालन होने से इस नाट्यकृति में आधुनिक प्रगतिशील चेतना सम्यक् रूप में नहीं आ सकी है।

गीत-योजना

श्री रघुवरदयाल वार्ष्णेय

प्रसाद पहले कवि हैं, बाद में गद्यकार। अतः उनकी काव्येतर रचनाओं में, विशेषतः नाट्यसाहित्य में, गीतों को स्थान प्राप्त हुआ है तो कोई आश्चर्य नहीं। कुछ विद्वानों ने उन पर यह आरोप लगाया है कि उनके गीत नाटकों के लिए बोझ बनकर आये हैं, वे नाट्यप्रवाह में बाधक हैं, रसधारा को अवरुद्ध करते हैं और कथानक में अवरोध उपस्थित करते हैं। किन्तु, वास्तविकता इससे भिन्न है। यह मान्य हो सकता है कि यत्र-तत्र कवि की काव्य-प्रवृत्ति नाट्यसाहित्य में व्यक्त हो उठी हो, और अनायास किसी गीत की योजना हो गई हो, जो कथानक के रस-स्रोत में बाधक हो। किन्तु, सर्वत्र ऐसा नहीं है। उनके पात्र कभी आनन्दातिरेक से भावुक हो जाते हैं, तो कभी दुःखातिरेक उन्हें भाव-विभोर कर देता है। ऐसी स्थिति में तो गीत स्वतः जन्म ले लेता है। यहाँ सप्रयास गीतों की आयोजना तो हो ही नहीं सकती। फिर वह नाटककार जिसका कि हृदय ही काव्य-पूर्ण, भाव-सम्पन्न और कल्पनामय है, वह कैसे वहक सकता है? जहाँ नाटक का पात्र, वहीं लेखक की कल्पना; और जहाँ कल्पना, वहीं भाव-सम्पन्नता; तथा इसी भाव-सम्पन्नता के साथ गीत। इसीलिए प्रसाद की कल्पना में सौन्दर्य, प्रेम तथा यौवन का पूर्ण उतार-चढ़ाव है, जो उनके प्रत्येक नाटक में मिलता है।

ये गीत जहाँ पात्र की मानसिक स्थिति का बोध कराते हैं, वहाँ वातावरण को भी तदनुरूप बना देते हैं तथा आगामी घटना की ओर भी इंगित कर देते हैं। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर सभी प्राचीन और कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने नाटकों में गीतों की आवश्यकता पर बल दिया है। अरस्तू ने जहाँ इन्हें नाटक का अभिन्न अंग स्वीकार किया है, वहाँ भारतीय नाट्यपरम्परा में भी गीतों की आवश्यकता पर बल दिया गया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "प्राचीन नाटक प्रायः भावपूर्ण और काव्यात्मक होते थे। उनमें प्रगीत मुक्तक बड़ी स्वाभाविकता के साथ और प्रभाव-वृद्धि के उद्देश्य से जुड़े रहते थे। नाटक की कथावस्तु का उनसे कोई विरोध नहीं था। भारतीय नाटककार नाट्यव्यापार को तीव्र और गतिशील बनाने के पक्ष में उतने न थे। वे नाटक में रमना जानते थे, घटनाओं के साथ दौड़ लगाना नहीं।"[१] वास्तविकता यह है कि घटनाप्रधान नाटकों में गीतों की योजना होने पर वे गीत कथानक को स्थिर न करके आगे बढ़ाते हैं। इसीलिए हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने नाट्यसाहित्य में गीतों की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है:

---

१. जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १४८।

"इस युग के कलाकार चाहते हैं कि नाटकों में गीत न दिये जायें। यदि रंगमंच या चित्रपट का ध्यान न हो तो नाटकों से गीतों को निर्वासित किया जा सकता है। रस-सृष्टि में संगीत बहुत सहायक सिद्ध होता है। आलोचक कहते हैं कि वास्तविक जगत् में गानेवाले पात्र नहीं मिलते। पात्रों से गीत गवाना अस्वाभाविक बात है। यह ठीक है कि नाटक का प्रत्येक पात्र गायक नहीं हो सकता, न प्रत्येक स्थान गीतों के लिए उपयुक्त हो सकता है, फिर भी नाटक में दो-एक पात्र ऐसे रखे जा सकते हैं जो नाटक की स्वाभाविकता को नष्ट न करते हों। गीत कथानक के अनुकूल हो और जो रस, जो वातावरण, जो प्रभाव लेखक उत्पन्न करना चाहता है, उसको गहरा करने-वाला हो।"[१]

इस कथन से इतना स्पष्ट है कि यदि नाटक में गीत वातावरण के अनुकूल हों तो सोने में सुगन्ध का कार्य करते हैं। अधिक गीतों को स्थान देना अथवा सम्बद्ध वातावरण के प्रतिकूल गीतों की रचना करना कथानक पर आघात ही करना है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो अनुकूल गीत उचित वातावरण की सृष्टि करते हैं, उनका संगीत नाटक में सजीवता उत्पन्न करता है तथा उनका स्वरूप नाटक को जीवनदान करता है। कुछ विद्वानों को चाहे इस प्रकार के गीतों में भी कथानक की अस्तव्यस्तता दिखाई देती हो, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि लयात्मक गीत दर्शक और पाठक को आत्मविभोर कर देते हैं। इन गीतों से पात्रों के अन्तर्मन के उत्थान-पतन, आशा-निराशा का पूर्ण ज्ञान होता है तथा भावी क्रिया-व्यापार का सूत्र हाथ लगता है। इस प्रकार यदि नाटक में निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखकर गीतों को स्थान दिया गया हो तो वे नाटक के लिए उपयोगी ही सिद्ध होते हैं: १. कथानक को अग्रसर करने-वाले गीत, २. भावों को उत्तेजित करनेवाले गीत, ३. रस को चरमसीमा पर पहुँचाने-वाले गीत, ४. पात्र के अन्तर्मन को स्पष्ट करनेवाले गीत, ५. नाटक में स्वाभाविकता लानेवाले गीत।

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने केवल चार गीतों की रचना की है; यद्यपि नाटक में ऐसे अनेक स्थल आये हैं जहाँ गीतों को सँजोया जा सकता था। उदाहरण के लिए ध्रुवस्वामिनी की परिस्थितिजनित निराशा या हिजड़ों-कुबड़ों आदि के प्रसंग में कोई भी गीत उपयुक्त हो सकता था। किन्तु, इस नाटक के रचना-काल तक प्रसाद की धारणाएँ काफ़ी-कुछ बदल गई थीं। वे यह मानने लगे थे कि गीत-योजना वहीं तक उचित है जहाँ तक कथा-भाग अवरुद्ध न हो। कथा का विकास भी होता रहे, पाठक या दर्शक भी न ऊबे तथा गीत भी चलते रहें; तभी नाटक सफल माना जाएगा। इसीलिए उन्होंने केवल ऐसे स्थलों पर गीत रखे हैं, जहाँ उन्हें रखना अति आवश्यक प्रतीत हुआ है।

'ध्रुवस्वामिनी' में एक गीत की योजना उस स्थल पर की गई है, जहाँ चन्द्रगुप्त स्त्री-वेष में शकराज के पास जाता है। वास्तव में देखा जाये तो इस स्थल पर नाटक

---

१. पुकार : विषपान, पृष्ठ १२।

एक विशेष मोड़ लेता है। शकराज अपनी कुछ शर्तों के साथ कापुरुष सम्राट् रामगुप्त के पास सन्धि का सन्देश भेजता है। वह शकराज, जोकि रामगुप्त के पिता समुद्रगुप्त के अधीन था और अनेक प्रकार की भेंट तथा कर देकर गुप्त-सम्राट् को प्रसन्न रखने का प्रयास करता था, अब रामगुप्त की कायरता और विलासिता से लाभ उठाकर गुप्त-साम्राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न करता है तथा कुछ कठिन और लज्जापूर्ण शर्तों पर सन्धि का प्रस्ताव भेजता है। इन शर्तों में एक शर्त है: ध्रुवस्वामिनी को भेंटस्वरूप देना। रामगुप्त अन्य शर्तों के साथ साथ इस शर्त को भी स्वीकार कर लेता है। यह तथ्य जब रामगुप्त के अनुज चन्द्रगुप्त को ज्ञात होता है तो वह क्रोधित हो उठता है और स्वयं ध्रुवस्वामिनी के स्थान पर स्त्री-वेश धारण करके जाने को प्रस्तुत हो जाता है। स्पष्ट है कि इस अवसर पर वातावरण में विशिष्ट सजीवता आ जाती है, कायरता और भीरुता के स्थान पर वीर-भाव जाग्रत हो जाता है तथा एक नई उत्तेजना स्थान ले लेती है। इसीलिए प्रसाद ने यहाँ एक वीरगीत की सर्जना की है,[1] जो वातावरण के पूर्ण उपयुक्त है। कुछ विद्वान् इस गीत को लम्बा कहकर इसकी अवहेलना करना चाहते हैं, किन्तु यह तर्क निर्बल प्रतीत होता है, क्योंकि कवि ने एक एक शब्द में वातावरण और पात्रों की स्थिति का बोध कराया है। रामगुप्त को छोड़-कर अधिकांश अन्य पात्र शकराज की शर्त मानने को तैयार नहीं थे। सौभाग्य से इसी समय ऐसा वातावरण भी प्रस्तुत हो जाता है। इस स्थिति में पात्रों को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, उनके मन में कितनी भावनाएँ जाग्रत हुई होंगी, वे कितने भाव-विभोर हुए होंगे! यदि इन सब भावनाओं के उद्रेक के लिए नाटककार ने लम्बे गीत को स्थान दे भी दिया, तो इससे नाटक में सौन्दर्य-वृद्धि ही हुई है।

प्रसाद के गीतों में उनका जीवन-दर्शन भी प्राय: प्रतिबिम्बित रहा है। उनका सबसे प्रमुख सिद्धान्त है—'आनन्दवाद' की स्थापना। 'ध्रुवस्वामिनी' में भी वे इस प्रवृत्ति को नहीं भुला सके। यहाँ तक कि सामन्त-कुमारों और मन्दाकिनी द्वारा गाये गये वीरगीत का अन्त भी आनन्दवाद में ही हुआ है:

"अपनी ज्वाला को आप पिये, नव नील कंठ की छाप लिये
विश्राम शान्ति को शाप दिये, ऊपर ऊँचे सब झेल चले।"[2]

कवि ने यहाँ स्पष्ट रूप से वीर-भावना की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए वीरों को शंकर के समान बताया है और अन्त में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि जो मनुष्य अपने पैरों पर आगे बढ़ते हैं, उन्हें सफलता मिलती है और उनका उत्कर्ष होता है। ऐसे व्यक्तियों की इच्छा, ज्ञान और क्रिया समरूप हो जाते हैं। इस प्रकार प्रसाद का अपना विशिष्ट जीवन-दर्शन है, जिसे वे किसी न किसी रूप में प्रस्तुत कर देते हैं, किन्तु इससे भाव-प्रवाह या कथानक में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता।

नाटक में गीत यदि भावों को उत्तेजित करने में समर्थ होते हैं तो उनसे उसमें

१-२. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ३३, ३३।

सौन्दर्य-वृद्धि ही होती है। प्रसाद के नाटकों में 'राज्यश्री' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक सर्वत्र गीतों में कलात्मक विकास स्पष्टतः दिखाई देता है। 'अजातशत्रु' में उनके गीतों में लाक्षणिकता और कवित्व के प्रवेश को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। इन गीतों में कहीं कहीं प्रसाद गुण के समावेश की ओर भी यथोचित ध्यान दिया गया है। ऐसे प्रसंगों में कवि ने गीत के भावों के लिए कथानक के अन्तर्गत उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ द्वितीय अंक में शकराज की प्रेमिका कोमा की अल्हड़ प्रकृति का चित्रण किया गया है। अपने चिन्तन-क्रम में वह अपने ही मन को टटोलने लगती है : "वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं ? (सीढ़ी पर बैठकर सोचने लगती है) प्रणय, प्रेम। जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आंखों में प्रकाश-पुंज उँडेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं। अपनी ओर से कोई भी प्रकाश की किरणें नहीं। तब वही केवल वही। हो पागलपन, भूल से, दुःख मिले, प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच-समझकर चलना दोनों बराबर हैं।"[१] प्रणय-मार्ग को लेकर कितनी स्वाभाविक जिज्ञासा है ! यौवन के इस तकाज़े से कोई मुक्त नहीं हो सकता। इस अवसर पर कवि ने एक गीत की योजना की है, जो पाठक के भावों को उत्तेजित कर देता है :

"यौवन ! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूंट भर पी लूं जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया।"[२]

भाव और परिस्थितियों की अनुकूलता यही है। यौवन-काल के रूप का चित्रण इससे अधिक और क्या साकार हो सकता है !

नाटक में गीतों की उपयुक्तता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उन्होंने रस-परिपाक में कहाँ तक योग दिया है। भारतीय आचार्यों ने नाटक में रससिद्धि को आवश्यक माना है। प्रसाद के सभी नाटकों में यह गुण कूट कूटकर भरा है। उनके साहित्य का मूल गुण आनन्दवाद का प्रतिपादन है, जिसका पूर्ण परिपाक रस-योजना से होता है। 'कामायनी' में आनन्द का पर्यवसान शान्त और शृंगार रस में हुआ है। इस तथ्य को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है : "शैवागम के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनों सीमाओं, शृंगार और शान्त, को स्पर्श करते है।" 'ध्रुवस्वामिनी' में भी वे इस सिद्धान्त से दूर नहीं जा सके। इस नाटक के सभी गीत किसी न किसी रस से युक्त हैं। उदाहरणस्वरूप मन्दाकिनी द्वारा गाया गया प्रथम गीत करुण रस का सुन्दर उदाहरण है। इस गीत की पटभूमि में प्रसाद ने एक ऐसी धूमिल परिस्थिति का चित्रण किया है, जो सहज करुण है। शकराज ने वैभवशाली गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया, किन्तु रामगुप्त भोग-विलास में लिप्त है ! शिखर-स्वामी शत्रु का सन्धि-पत्र

१-२. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३५।

लेकर आता है, किन्तु उसकी ओर भी वह ध्यान नहीं देता। जब शिखर-स्वामी उसे समझाने की चेष्टा करता है, तो वह कहता है : "विचित्र हो चाहे सचित्र, अमात्य तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी में है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल से परास्त हों।"[१] मन्दाकिनी इसी भयानक समस्या को देखकर बिलख उठती है। वह स्पष्टतः कह देती है : "मूर्खों के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है। सच है, वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छन्द की धूल उड़ती है।"[२] कितनी कसक है, कैसा करुण दृश्य है! ऐसे समय करुण गीत की प्रस्तुति उचित ही है। यथा :

"यह कसक अरे आँसू सह जा
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता रह जा,
... ...
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।"[३]

उपर्युक्त गीत-पंक्तियों में करुण रस का परिपाक हुआ है। अन्य गीतों में भी परिस्थितियों के अनुसार वीर और शृंगार रस को स्थान प्राप्त हुआ है।[४] एक स्थान पर प्रसंगवश नर्तकियों के गीत का आयोजन किया गया है, जिसमें मनोरंजन का तत्त्व प्रमुख है और शृंगार रस का पूर्ण प्रतिपादन न होने पर भी उसकी स्पष्ट झलक विद्यमान है।

नाटक के पात्र विभिन्न परिस्थितियों के घात-प्रतिघातों को सहन करते हुए आगे बढ़ते हैं। इनके फलस्वरूप कभी तो उनका मन करुणाभिभूत हो जाता है, कभी आनन्दाभिभूत और कभी वे वीर-भाव का अनुभव करते हैं। गीत मानव-मन के इन सभी भावों को प्रकट करने में समर्थ होते हैं। जिन गीतों में मनोभावों और अन्तर्द्वन्द्वों का जितना स्पष्ट उल्लेख रहता है, वे उतने ही सफल समझे जाते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' के चारों गीतों में पात्रों के व्यक्तित्व की विभिन्न रेखाओं को व्यंजित करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। उदाहरणार्थ मन्दाकिनी के दोनों गीतों से यह स्पष्ट है कि उसमें देश-प्रेम की भावना का उपयुक्त परिपाक मिलता है। इसी प्रकार कोमा के गीत में यौवन की मादकता का सहज समावेश हुआ है, जो शकराज की प्रेमिका होने के नाते उसके लिए स्वाभाविक है। इस संदर्भ में डॉ० रामसेवक पाण्डेय का मन्तव्य उल्लेखनीय है : "नाट्यगीत-योजना की कलात्मक परिणति प्रसाद के अन्तिम तीनों नाटकों (स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी) में हुई है। उनके गीत अत्यन्त उपयुक्त, समय और परिस्थिति के अनुरोध के अनुरूप बन पड़े हैं। उनमें काव्यात्मक गरिमा, भाव-मधुपना तथा

१-२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १८, १८, १९।
४. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ३३-३५।

लाक्षणिकता के साथ ही स्थान की उपयुक्तता का आग्रह भी है। उनके कतिपय गीत अपनी विशिष्टता में हिन्दी-साहित्य की अमर निधि बन गये हैं।"[1]

प्रसाद के नाटकों में कुछ विशिष्ट विषयों पर ही गीत मिलते हैं, जो उनकी मनोभावनाओं के पूर्णतः अनुकूल हैं। वे विषय हैं—विरहिणी का अतृप्त प्रेम, भावुक मन का प्रलाप, नर्तकी का व्यावसायिक गान, मातृभूमि के प्रति अनन्य अनुराग, आदि। इन विषयों में से 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रेयसी के अल्हड़ प्रेम, नर्तकी के व्यावसायिक गान, मातृभूमि-प्रेम और भावावेश सम्बन्धी गीत मिलते हैं। ये सभी गीत अत्यन्त स्वाभाविक और समयानुकूल हैं।

प्रसाद के नाट्यगीतों की प्रमुख विशेषता यह है कि नाटकगत कथावस्तु से सम्पृक्त होने के साथ ही उनकी स्वतन्त्र सत्ता भी है। किसी भी गीत में सामान्यतः निम्नलिखित गुण अपेक्षित होते हैं: संगीतात्मकता, भाव-ऐक्य, रागात्मक अन्तःप्रेरणा, संक्षिप्तता। 'ध्रुवस्वामिनी' के गीतों में ये सभी गुण विद्यमान हैं। इन गीतों में संगीत-कला के अनुरूप लय तथा आरोह-अवरोह की ओर यथोचित ध्यान दिया गया है। सशक्त भावाभिव्यंजना, उपयुक्त शब्द-कला, स्वाभाविक भाव-प्रवाह आदि के फलस्वरूप भी उनके गीतों में सौष्ठव का समावेश हुआ है। वस्तुतः प्रस्तुत नाटक के सभी गीत प्रसाद की तीव्र अनुभूति के परिणाम हैं, अतः इनमें भाव-ऐक्य का भी उपयुक्त निर्वाह हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' के दूसरे और चौथे गीतों में स्फुलिंग के समान एक ही अनुभूति व्याप्त है। संक्षिप्त भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से क्रमशः मन्दाकिनी और कोमा द्वारा गाये गये प्रथम और तृतीय गीत द्रष्टव्य हैं।

गीत अन्तःप्रेरित उपादान है, अतः उसमें भावना की पूर्णता होती है। उसमें भाषा भावानुकूल और अनुभूतिपरक होती है तथा अलंकार अपनी स्वाभाविक अवस्था में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के काव्य में एक ऐसा प्रवाह होता है जो पाठक को सहज ही अभिभूत कर लेता है। प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' के गीतों में कल्पना की उड़ान, अनुभूति की पराकाष्ठा, भावुकता की चरमसीमा और सरसता के सन्दर्भ में कला को सहज मुखरित रखा है। भाव-प्रांजलता, भाषा-माधुर्य, रूपक और उपमा के सौन्दर्य, चित्रात्मकता आदि का इन गीतों में स्वाभाविक समावेश है।



१. प्रसाद की नाट्यकला, डॉ० रामसेवक पाण्डेय, पृष्ठ २४८।

भाषा का स्वरूप

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

हिन्दी-नाटक के विकास-क्रम में प्रसाद के नाट्यसाहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्यकला की दृष्टि से उनके नाटकों का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' उनके नाटकों की गौरवपूर्ण शृंखला की अन्तिम कड़ी है। यद्यपि यह नाटक आकार में संक्षिप्त है, किन्तु इससे इसका महत्त्व कम नहीं होता, वरन् बढ़ता ही है। प्रसाद के अन्य नाटकों की तुलना में यह नाटक कई दृष्टियों से भिन्न है। भाषा की दृष्टि से भी इस नाटक का विशिष्ट महत्त्व है।[1] सामान्यत: आलोचकों ने प्रसाद के नाटकों पर ये आरोप लगाये हैं कि उनमें अभिनय के लिए अपेक्षित तत्त्वों की कमी है और भाषा का रूप जटिल अथवा अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ है, किन्तु इस लघु नाटक में प्रसाद ने सिद्ध कर दिया है कि वे सरल-सजीव भाषा एवं उदात्त नाट्यशैली में नाटक लिख सकते हैं। यह उनकी प्रौढ़ कृति है, जिसके चार वर्ष बाद वे इस संसार में नहीं रहे; अतएव निर्विवाद रूप से यह उनका अन्तिम नाटक है।

भाषा की दृष्टि से प्रसाद ने सर्वप्रथम संवादों पर ध्यान दिया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में दीर्घ संवाद नही हैं. प्राय: वे बातचीत के रूप में विकसित हुए हैं जिससे कथानक रोचकता लिए हुए आगे बढ़ता है। सजीव भाषा में लिखे गये कथोपकथन से घटनाक्रम का विकास पर्याप्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। संक्षिप्त तथा चुटीले वाक्यों में लिखित होने के फलस्वरूप संवाद पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी सहायक सिद्ध हुए हैं। उनकी भाषा में भावों की तीव्रता है, जिससे सवादों को सुनने-पढ़ने मात्र से उनमें निहित दर्प,

---

१. यह निर्विवाद है कि यह कृति महत्त्वपूर्ण है, किन्तु सर्वश्रेष्ठ भी है कि नहीं, इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। यथा :

(अ) "कथोपकथन स्वाभाविकता के अधिक समीप हैं।···ध्रुवस्वामिनी में प्रसाद जी ने एक नया प्रयोग किया है। वह उनकी अन्तिम रचना है, परन्तु उनकी श्रेष्ठतम कृति नहीं।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १५६।

(आ) "प्रसाद की रचनाओं में, नाटकों में ही नहीं अपनी मर्मस्पर्शिता, सरलपन और क्रान्तदर्शिता तथा सुलझे हुए कथानक के लिए सम्भवत: 'ध्रुवस्वामिनी' सर्वश्रेष्ठ है।"

— शम्भुप्रसाद बहुगुणा, महावीर अधिकारी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'प्रसाद : कृतित्व और व्यक्तित्व' में सकलित निबन्ध से उद्धृत।

उद्वेग आदि भाव प्रकट हो जाते हैं; साथ ही पात्रविशेष की धूर्त्तता एवं बर्बरता भी व्यक्त हो जाती है। यह उल्लेखनीय है कि उपयुक्त शब्द-चयन से ही नाटक के संवादों में मार्मिकता तथा विदग्धता को स्थान दिया जा सकता है, जिससे पात्रों के चरित्र-चित्रण के साथ वातावरण की सृष्टि भी होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी के संवादों में आवेश तथा तीव्रता है। दूसरी ओर कोमा के संवादों में सौम्यता, काव्यात्मकता तथा धीरता प्रकट होती है। संवादों से भिन्न भिन्न प्रकार की भावाभिव्यक्ति हो, इसमें प्रसाद की भाषा प्रायः सहायक सिद्ध हुई है।

'ध्रुवस्वामिनी' की भाषा सर्वत्र संस्कृतनिष्ठ है। इसमें सभी पात्र एक-सी भाषा का प्रयोग करते हैं, चाहे वे उच्चवर्गीय हों या निम्नस्तरीय सेवक। आर्य-अनार्य, स्त्री-पुरुष की दृष्टि से भी उसमें भेद नहीं है, यहाँ तक कि बौने तथा हिजड़े भी लगभग एक ही स्तर की भाषा का प्रयोग करते हैं। उदाहरणस्वरूप ये उद्धरण देखिए :

(अ) **रामगुप्त** : जिसकी भुजाओं में बल न हो उसके मस्तिष्क में तो कुछ होना चाहिए।

(आ) **शिखर-स्वामी** : मेघसंकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए।

(इ) **ध्रुवस्वामिनी** : पहले अमात्य की मन्त्रणा सुननी पड़ती है तब राजा से भेंट होती है।

(ई) **बौना** : तुम पुरुष हो, युद्ध करो।

सभी पात्रों द्वारा एक-सी भाषा का प्रयोग प्रसाद की दृष्टि से अनुचित न था। 'चित्राधार' में संकलित 'सज्जन' एकांकी में उन्होंने पात्रों से विविधतापूर्ण भाषा का प्रयोग कराया था, किन्तु बाद में उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में एक निश्चित मत बना लिया था। इस सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति द्रष्टव्य है : "एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह कुछ देहाती पात्रों में उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था, वह बहुत-कुछ परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी। सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थीं। वर्तमान युग की भाषा सम्बन्धी प्रेरणा भी कुछ कुछ वैसी ही है, किन्तु आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुग़लों से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं, तो उनकी जंगली भाषा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्या वह नाटक हिन्दी का ही रह जायेगा? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी-नाटकों के लिए ही है।"[१] प्रसाद के लिए समरस भाषा का प्रयोग एक अनिवार्यता इसलिए भी थी कि वे ऐतिहासिक नाटक लिख रहे थे, जिनमें ऐतिहासिक वातावरण मुख्य होता

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, सं० २०१५, पृष्ठ १०७।

है। ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण के लिए संस्कृत शब्दावली आवश्यक थी।

संस्कृत की समासान्त पदावली का अधिक प्रयोग होने के कारण ही प्रसाद के नाटकों में क्लिष्टता आ गई है। किन्तु अपने नाटकों के इस भाषा-दोष से भी वे सहसा अपरिचित न थे। वस्तुतः उनकी क्लिष्टता विचारों की क्लिष्टता और गम्भीरता से सम्बन्धित है। उनके ही शब्दों में : "मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होती है और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी-नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"[1] वस्तुतः प्रसाद के नाटक काव्यपूर्ण और विचार-बोझिल हैं, जिसके कारण भाषा स्वयं क्लिष्ट हो जाती है। उनके प्रारम्भिक नाटक, विचार-बोझिल न होने के कारण, 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'अजातशत्रु' से कम क्लिष्ट हैं। तथापि यह उल्लेखनीय है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में आकर उनकी भाषा का पर्याप्त नाटकीय परिष्कार हुआ है, इसीलिए वह अपेक्षाकृत कम क्लिष्ट है। यद्यपि यह नाटक भी इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं है। नाटक के आरम्भ में ही ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं : 'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरणों में लोटना ही चाहिए न!" क्लिष्टता के आधार पर ही सम्भवतः आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने प्रसाद की भाषा को 'फीलपाँवी' कहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'ध्रुवस्वामिनी' की भाषा में भी नाटकीय प्रवाह नहीं, किन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसमें प्रसाद ने सतर्कता और जागरूकता का परिचय दिया है। यही कारण है कि इसकी भाषा एकरस और सर्वथा क्लिष्ट नहीं है और वह पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार बदलती गयी है। जैसे :

'ध्रुवस्वामिनी : अरे, तो क्या तुम बोलती भी हो! पर यह तो कहो यह कपट आचरण किसलिए?

खड्गधारिणी : एक पीड़ित की प्रार्थना सुनाने के लिए। कुमार चन्द्रगुप्त को आप भूल न गई होंगी।

ध्रुवस्वामिनी (उत्कण्ठा से) वही न, जो मुझे बंदिनी बनाने के लिए गये थे?"

सामान्यतः 'ध्रुवस्वामिनी' में भाषा के दो रूप स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं : १. ओजमय, २. प्रसादमय। ओजमय भाषा उग्र विचारों की अभिव्यक्ति के लिए

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, सं० २०११, पृष्ठ १०३।

प्रयुक्त की गई है। ध्रुवस्वामिनी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसी भाषा में अभिव्यक्त हुआ है। इस भाषा में आवेश, उत्साह और संघर्ष की स्थितियाँ मुखर हो उठी हैं। यथा : "**ध्रुवस्वामिनी**—निर्लज्ज ! मद्यप !! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं। नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूं। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।" अपने सहज-स्वाभाविक ओज के कारण यह भाषा संस्कृतनिष्ठ होने पर भी सर्वत्र बोधगम्य है। प्रचलित शब्दों के बहिष्कार के कारण भाषा के प्रवाह में किसी प्रकार की कमी नहीं आई है और लोक-प्रचलित मुहावरों का प्रयोग न होना भी खटकता नहीं है।

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रेम-प्रसंगों में भाषा का प्रसादमय स्वरूप दिखाई देता है। ऐसे स्थलों पर भाषा की सहज-कोमलता, मधुरता और तरलता अपूर्व हो उठी है। उदाहरणार्थ, शकराज के प्रति कोमा की यह उक्ति देखिये : "पाषाणी ! हाँ, राजा ! पाषाण के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं; उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है।" शकराज के प्रति कोमा की निम्नलिखित उक्ति में भी भाषा की यही प्रवृत्ति लक्षित होती है : "राजा, तुम्हारी स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गयी हूँ।" भाषा का यही रूप कभी कभी काव्यमय बन जाता है और एक एक वाक्य सूक्ति बनकर निखरता दिखाई देता है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

(अ) "अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है ?"

(आ) "वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनीतिक छलछन्द की धूलि उड़ती है।"

(इ) "पाषाण के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं।"

(ई) "छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षक भी, पर दुखदायी और हृदय को वेधने के लिए।"

(उ) "मेघसंकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो, उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए।"

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने कुछ गीतों की रचना भी की है। उनके गीत स्वर और ताल पर सधे हुए नृत्य करते हैं; संगीतात्मकता इनका विशिष्ट गुण है। प्रस्तुत कृति में कुल चार गीत हैं : पहले दो मन्दाकिनी द्वारा गाये गये हैं, तीसरा कोमा द्वारा तथा चौथा नर्तकियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इन गीतों की प्रथम पंक्तियां इस प्रकार हैं :

(अ) "यह कसक करे आंसू सह जा।"

(आ) "पैरों के नीचे जलधर हो, बिजली से उनका खेल चले।"

(इ) "यौवन तेरी चंचल छाया।"

(ई) "अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुंघराली है।"--

ये गीत क्रमशः प्रेम, देशभक्ति, यौवन की क्षणभंगुरता और मानव-जीवन की करुणा और विडम्बना को व्यक्त करते हैं। इन गीतों की भाषा का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से प्रसाद के प्रगीतों की भाषा पर डॉ० गणेश खरे की टिप्पणी उल्लेखनीय है : "नयी शैली तथा नया वाक्य-विन्यास उनके प्रगीतों में मिलता है, इसी के कारण भाषा चित्रमयी, नादमयी, रूपमयी, रंगमयी, मधुर, कोमल, सुललित, ओजस्विनी, संगीतात्मक, प्रवाहमयी, अलंकृत, प्रतीकात्मक, ध्वन्यात्मक, सजीव, काव्यात्मक एवं मर्मस्पर्शिनी बन गयी है।"[१] इसमें सन्देह नहीं कि 'ध्रुवस्वामिनी' के गीतों से न केवल कथानक की गरिमा बढ़ी है, अपितु इससे नाट्यशिल्प के लालित्य को भी बल मिला है। यद्यपि "वर्तमान नाटकों में गीतों को कथा-सौष्ठव में बाधक मानने की प्रवृत्ति चल पड़ी है, किन्तु उनका पूर्ण बहिष्कार उचित नहीं है।"[२] सत्य तो यह है कि यदि प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में नाटक, संगीत और काव्य के तत्त्वों को एक स्थान पर समाहित न किया होता तो यह रचना इतनी प्रभावशाली नहीं बन सकती थी। उनकी काव्यमयी भाषा में संगीत की तल्लीनता और मस्ती है, जिससे संवादों में रस-संचार की अद्‌भुत क्षमता आ गई है।

शब्द-चयन

शब्द-चयन में प्रसाद कविता की भाँति नाटकों में भी विशेष सतर्क रहे हैं और इस दिशा में उन्होंने भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की है। उनके द्वारा प्रयुक्त 'गिरिपथ' और 'राजपथ' शब्द हो सकता है कुछ क्षेत्रों में सन् १९३३ में अटपटे लगे हों, पर अब तो दिल्ली में 'जनपथ' और 'राजपथ' धड़ल्ले से चल रहे हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक शब्दों का प्रयोग उन्होंने जानबूझकर तथा निष्ठा के साथ किया है। यथा : दुपट्टा के स्थान पर 'उत्तरीय', पालकी के स्थान पर 'शिविका', कमरा के स्थान पर 'प्रकोष्ठ', पीढ़ा के स्थान पर 'पादपीठ', चंदोवा के स्थान पर 'चन्द्रातप'। यह उल्लेखनीय है कि उनके संवादों में एक एक शब्द नपा-तुला है। संस्कृतगर्भित रूपों के आग्रह के कारण अर्गला, निर्वसन, तमिस्रा, क्षीव, क्लीव, किल्विष, अनभ्र, अभ्रभेदी, प्रवर्तन-चक्र जैसे शब्दों की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति रही है। 'स्वस्त्ययन' एक धार्मिक कृत्य है, अतएव इसके प्रयोग को पारिभाषिक शब्दावली की भाँति स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार 'धूमकेतु' शब्द का प्रयोग नाटकीय व्यंग्य के रूप में किया गया है। जब ध्रुवस्वामिनी शकराज से क्रोध में कहती है : 'धूमकेतु-सी अपनी गति बन्द करो',

---

१. प्रसाद के प्रगीत, डॉ० गणेश खरे, पृष्ठ २०८।

२. समीक्षात्मक निबन्ध, डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, 'नाटक का स्वरूप' शीर्षक लेख, पृष्ठ १२६।

तो शकराज धूमकेतु की ओर देखकर भयभीय-सा हो जाता है। यदि यहाँ 'धूमकेतु' के स्थान पर किसी अन्य उपमान का प्रयोग किया गया होता तो समस्त चमत्कार नष्ट हो जाता।

'ध्रुवस्वामिनी' में कहीं कहीं हिन्दी के प्रचलित रूपों के स्थान पर भी संस्कृतनिष्ठ शब्द रखने का आग्रह मिलता है, जो उचित नहीं है। 'चूर चूर हो गया है' के स्थान पर 'चूर्ण हो गया है' लिखना इसका उदाहरण है। वैसे, प्रसाद के शब्द-चयन की विशिष्टता विशेषणों के प्रयोग में देखी जा सकती है। नपे-तुले, अनुप्रासमय और साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से शैली में अद्‌भुत संक्षिप्तता तथा सांकेतिकता आ गई है। यथा : **अभ्रभेदी उन्मुक्त** शिखर; **क्षुद्रकोमल निरीह** लताएँ; **भीषण** भविष्य; **निरभ्र** प्राची; **स्वर्ण** पिंजर; **कलुषित** वातावरण; **घातक** स्पर्श; **विकासोन्मुख** कुसुम; **मधुर** आलोक; **कलंक-कालिमा** के कारागार; **प्राथमिक प्रसन्न** उल्लास; **साकार** कठोरता; **नीरव** अपमान; **मधुर** सम्भाषण; **स्निग्ध सरल सुन्दर** मूर्ति; **प्रबल** पक्ष; **असंगत अशिष्ट** याचना; **अतृप्त** हृदय; **स्वर्गीय** गर्व; **क्षुद्र दुर्बल** नारी जीवन; **उदास** और **अलस** पवन।

संस्कृत की पद्धति पर भी कहीं कहीं स्त्रीलिंग-विशेषणों का प्रयोग मिलता है। 'प्रेमगलिता' इसी प्रकार का प्रयोग है।

वाक्य-विन्यास

प्रस्तुत नाटक में वाक्यों का गठन कसावट लिए हुए है। यहाँ उदाहरणार्थ केवल निषेधवाचक अव्यय ही लिए जा रहे हैं। इन वाक्यों में न केवल ठीक ठीक उच्चारण में स्वर-लहरी का विशेष महत्त्व लक्षित होता है, अपितु भावाभिव्यक्ति में भी स्वर-लहरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न स्वर-लहरियों से युक्त निषेधात्मक अव्ययों का प्रयोग द्रष्टव्य है :

१. **प्रश्नवाचक :** (अ) 'ठीक होगा न ?' (आ) 'यह एक विलक्षण घटना है, है न ?' (इ) 'यह युद्ध-शिविर है न ?' (ई) 'मैं महादेवी ही हूँ न ?'

२. **आश्चर्यबोधक :** (अ) 'है न ! केवल एक तुम्हीं मेरे विश्वासपात्र हो।' (आ) 'समझा न ! यही गिरिपथ सब झगड़ों का अन्तिम निर्णय करेगा।'

३. **सामान्य :** (अ) 'सुना न, ध्रुवदेवी से कह देना चाहिये कि वह मुझे और मुझे ही प्यार करे।' (आ) 'चन्द्रगुप्त को आप भूल न गई होंगी।'

४. **उत्कण्ठा व्यक्त करने के लिए :** (अ) 'देखिये न', (आ) 'वही न।'

अन्य विशेषताएँ

(क) **उपयुक्त सम्बोधन :** भावाभिव्यक्ति में उचित सम्बोधन का भी महत्त्व होता है। इस दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' में पात्रों के पारस्परिक सम्बोधन महत्त्वपूर्ण हैं। ध्रुवस्वामिनी द्वारा प्रयुक्त कुछ विशिष्ट सम्बोधन द्रष्टव्य हैं : (अ) शिखर-स्वामी के

लिए : निर्लज्ज, (आ) रामगुप्त के लिए : निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव, अनार्य, निष्ठुर, (इ) चन्द्रगुप्त के लिए : कुमार, चन्द्रे आदि। इन उदाहरणों के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि सम्बोधनों के प्रयोग से सम्बद्ध भावों की मार्मिकता निश्चय ही बढ़ती है।

(ख) आश्चर्यद्योतक प्रयोग : आश्चर्य प्रकट करने के लिए सामान्यत: 'हैं', 'ऐं' आदि का प्रयोग किया जाता है। प्रसाद ने इनके प्रयोग में पर्याप्त सतर्कता दिखाई है। उदाहरणार्थ रामगुप्त और चन्द्रगुप्त आश्चर्यद्योतन के लिए सर्वत्र 'हैं' का प्रयोग करते हैं। झेंपने के भाव के लिए कुछ भिन्नता लिए हुए 'हूँ' का प्रयोग किया गया है। इस बात को स्पष्टत: देखा जा सकता है कि इनसे इतर सभी पात्र—शिखर-स्वामी, शकराज, ध्रुवस्वामिनी आदि—'ऐं' का ही प्रयोग करते हैं। यथा :

(अ) शिखर-स्वामी : (आश्चर्य से) 'ऐं !'

(आ) शकराज : 'ऐं, तुम सच कहते हो !'

(इ) शकराज : (चकित-सा) 'ऐं, यह तुम कौन प्रवंचक !'

(ई) ध्रुवदेवी : 'ऐं !'

अन्त में प्रसाद के इस लघु पर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' की भावानुरूपिणी भाषा के सम्बन्ध में यह मत दिया जा सकता है कि इसमें प्रसंगानुसार पात्रों के भावों की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है जो रसानुकूल होकर कहीं सरस, कहीं कोमल और कहीं ओजमयी बन गयी है। भाषा में शिथिलता लेशमात्र भी नहीं है, सर्वत्र प्रवाह है और वह क्लिष्टता के आरोप से भी मुक्त है। वाक्यों का गठन इस प्रकार का है कि उपयुक्त स्थान पर बल तथा स्वराघात पड़ता है। मुहावरों का अभाव खटकता अवश्य है, पर इससे कहीं भी भावाभिव्यक्ति में बाधा नहीं पहुँची है। कुल मिलाकर प्रसाद की भाषा एक विचित्र प्रभाव डालती है। डॉ० नामवरसिंह के शब्दों में : "उनकी भाषा एक आभिजात्य गरिमा को लिए हुए है। उनकी स्थापना में तुंगता तथा वैभव है तो विरोध और खण्डन में भी भव्यता और ऊर्जस्विता। स्वच्छन्दता उतनी नहीं है जितनी उज्ज्वलता है।"

शब्द-सौष्ठव

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त

प्रसाद की रचनाओं में भाषा-सौष्ठव का मुख्य आधार उनकी शब्द-कला है। शब्द-कला से मेरा अभिप्राय है : शब्दों में निहित अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति, शब्दों का यथास्थान प्रयोग, शब्द के सामर्थ्य का ज्ञान, उसका उचित उपयोग तथा शब्द से सम्बन्धित इतिहास और परम्परा की रक्षा करते हुए उसका उचित प्रसंग एवं अनुबन्ध में प्रयोग। प्रत्येक शब्द अपनी विशिष्टता रखता है—उसके व्यक्तित्व को, उसके स्वरूप को एवं उसकी शक्ति को समझना तथा उसे भावाभिव्यक्ति के लिए ठीक ठीक प्रयुक्त करना अपने आप में एक कला है। नाटककार के लिए यह कला अनिवार्य है।

प्रसाद मुख्यत: कवि थे—उनकी गद्य-शैली भी काव्य के गुण से सम्पन्न है। उनके गद्य में तर्क का अभाव नहीं है पर उसका सौन्दर्य शब्द-चयन, अनुभूति, कल्पना एवं विचार को सँवारकर प्रस्तुत करने में है। प्रसाद का एक एक शब्द उनके चिन्तन, मनन और अध्ययन का सूचक है। उनके शब्दों के पीछे प्राचीन भारत की समूची संस्कृति और परम्परा होती है। वैदिक काल से लेकर गुप्त काल तक के इतिहास को जिसने भारतीय दृष्टि से न पढ़ा-समझा हो वह प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त शब्दों, अनुभूतियों, विचारों, कल्पनाओं को सम्यक्रूपेण हृदयंगम नहीं कर सकता। वस्तुत: 'नानापुराण निगमागम' तथा प्राचीन इतिहास और शास्त्र में जो कुछ वर्णित है उस सब की पृष्ठभूमि में ही प्रसाद की रचनाओं का मूल्यांकन हो सकता है। प्रसाद ने शैव और बौद्ध धर्म सम्बन्धी आचार-विचार को भी आत्मसात् किया है। वे नीति और अर्थशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से भी अभिज्ञ थे। वे विचारों में आधुनिक होते हुए भी प्राचीन से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या कला-शैली—सभी में यह समन्वय स्पष्ट है।

'ध्रुवस्वामिनी' गुप्त काल (चन्द्रगुप्त द्वितीय) से सम्बन्धित रचना है। तत्कालीन राजनीति, आचार-व्यवहार-प्रथा आदि का ज्ञान 'ध्रुवस्वामिनी' को पूर्ण रूप से समझने के लिए अपेक्षित है। प्रस्तुत नाटक में प्रयुक्त शब्दों और उनके अर्थ-गौरव के माध्यम से हम उस युग की सामाजिक स्थिति की झाँकी प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ हम पहले कुछ ऐसे ही शब्दों पर विचार करना चाहते हैं। प्रसाद ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जो प्राचीन इतिहास के सार्थक शब्द कहे जा सकते हैं। महादेवी, परमभट्टारक, कुमार, अमात्य, विनय, साहस, संधि आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं।

पहले एक सामान्य शब्द 'साहस' को लीजिए। ध्रुवस्वामिनी के मन में चन्द्र-गुप्त के प्रति स्नेह है। वह कुमार की चिन्ता करती हुई खड्गधारिणी से कहती है : "किन्तु उन्हें कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिए जिसमें उनकी परिस्थिति और

कन्याओं के विवाह-बन्धन की व्यवस्था रहती थी। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार जिसके द्वारा राजाओं में पणबन्धविषयक विश्वास प्राप्त हो वही 'शम' संधि या समाधि है। जिस विश्वास की दृढ़ता सत्य या शपथ द्वारा होती है उसे 'चल' संधि कहते हैं और जो प्रतिभू (ज़मानतदार) अथवा प्रतिग्रह (बात का विश्वास दिलाने के लिए राजपुत्र आदि का अर्पण) के साथ होती है वह 'स्थावर' संधि है। शकदूत जिस संधि का प्रस्ताव लेकर आया है उसमें ध्रुवस्वामिनी को प्रमाणस्वरूप शकराज चाहता है। रामगुप्त अपनी स्त्री को भी संधि के उपहार में देने के लिए तत्पर है। वह कहता है : "शक-दूत संधि के लिए जो प्रमाण चाहता हो, उसे अस्वीकार न करना चाहिए। ऐसा करने में इस संकट के बहाने जितनी विरोधी प्रकृति है, उस सबको हम लोग सहज में ही हटा सकेंगे।" यहाँ प्रयुक्त **प्रकृति** शब्द भी राजनीतिशास्त्र का है। कौटिल्य के अनुसार राजा, मंत्री, देश, दुर्ग, कोष, सैन्य, मित्र और शत्रु ये आठ राज्य की प्रकृति हैं। रामगुप्त एक साथ ही इस संधि से भीतर और बाहर के सब शत्रुओं को परास्त करना चाहता है। वह अमात्य से कहता है : "अमात्य, तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी में है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हों।" यहाँ **चाल** शब्द अत्यन्त सार्थक है। 'चाल' में जिस कपट की अभिव्यक्ति है वह 'युक्ति' या किसी अन्य शब्द के प्रयोग में सम्भव नहीं थी। रामगुप्त के शब्दों में उसकी इस विजय-यात्रा का कोई गुप्त उद्देश्य है, जिसकी सफलता भी उसे सामने दिखाई पड़ रही है।

प्रसाद द्वारा दान के अर्थ में प्रयुक्त तीन शब्द भी विचारणीय हैं—**दान, सम्प्रदान और विसर्जन**। इन तीनों का प्रयोग अपने अपने स्थान पर अत्यन्त सफल है—वहां उनके पर्याय नहीं रखे जा सकते। ध्रुवस्वामिनी कहती है : "मेरे पिता ने उपहारस्वरूप कन्या-**दान** किया था। किन्तु गुप्त-सम्राट् क्या अपनी पत्नी शत्रु को उपहार में देंगे?" अन्यत्र उसी की उक्ति है : "किन्तु मैं भी यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त-साम्राज्य क्या स्त्री-**सम्प्रदान** से ही बढ़ा है?" इसी प्रकार शिखर-स्वामी की यह उक्ति भी द्रष्टव्य है : "उसके लिए (राष्ट्र की रक्षा के लिए) राजा, रानी, कुमार और अमात्य सबका **विसर्जन** किया जा सकता है; किन्तु राज-विसर्जन अन्तिम उपाय है।" कन्यादान और स्त्रीदान में अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही उपर्युक्त उक्तियों में से दूसरी उक्ति में 'सम्प्रदान' का प्रयोग है। संधि में कन्यादान दो परिवारों में मैत्री की दृष्टि से किया जाता था—विवाह-सम्बन्ध संधि की दृढ़ता का सुदृढ़ प्रमाण था। पत्नी देकर किसी प्रकार के सम्बन्ध की बात नहीं उठती, यह तो क्लीवता की पराकाष्ठा है। 'विसर्जन' में थोड़ी विवशता का भाव है और यह संधि के निमित्त किया जानेवाला त्याग है। उपर्युक्त उक्तियों में प्रयुक्त 'उपहारस्वरूप' और 'उपहार' में भी अन्तर है—केवल 'उपहार' में भेंट देनेवाले की हीनता का भाव है, जिसे हम घूस कह सकते हैं। संधि के समय साधारणत: द्रव्य का उपहार देने की प्रथा थी। किसी वस्तु को 'उपहारस्वरूप' देने में उपहार प्राप्त करनेवाले के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव

होता है। कौटिल्य ने संधि में रखे गए व्यक्तियों को 'प्रतिग्रह' कहा है : "बन्धु मुख्य प्रग्रहः प्रतिग्रहः।" प्रसाद ने 'प्रतिग्रह' का इसीलिए प्रयोग नहीं किया होगा कि ध्रुवस्वामिनी को लौटाने की बात थी ही नहीं। वह निक्षेप या धरोहर-रूप में नहीं दी जा रही थी, वरन् वह तो शकराज की आवश्यकता-पूर्ति के लिए, उसकी शय्या के लिए, क्रीतदासी की तरह उपहार में दी जा रही थी।

प्रसाद द्वारा 'प्रयुक्त शब्दों में **देवपुत्र और अवरोध** भी विचारणीय हैं। 'देवपुत्र' का प्रयोग ध्रुवस्वामिनी के आने की सूचना पाकर शकराज ने किया है : "आज देवपुत्रों की स्वर्गीय आत्माएँ प्रसन्न होंगी। उनकी पराजयों का यह प्रतिशोध है।" समुद्रगुप्त के इलाहाबादवाले प्रशस्ति-लेख में 'देवपुत्रपाहिषाहानुषाहि' आया है। यहाँ 'देवपुत्र' से कुषाणों का अभिप्राय है। 'अवरोध' शब्द के अर्थ हैं—अन्तःपुर, रुकावट, बन्दीवास, घेरा। घेरे के अर्थ में इसका प्रयोग खिंगल द्वारा किया गया है : "महाराज! मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि हम लोगों का अवरोध दृढ़ है।" 'अवरोध' शब्द का प्रयोग अन्यत्र खड्गधारिणी द्वारा किया गया है। वह ध्रुवस्वामिनी से, जो अन्तःपुर में भी बंदिनी-सी है, कहती है : "अवरोध के भीतर मैं गूंगी हूँ। यहाँ संदिग्ध न रहने के लिए मुझे ऐसा ही करना पड़ता है।" यहाँ 'अवरोध' का अर्थ अन्तःपुर है। चूंकि अन्तःपुर में ध्रुवस्वामिनी को वन्दिनी के रूप चित्रित करना था, इसीलिए नाटककार ने 'अवरोध' शब्द का प्रयोग किया है। यह उल्लेखनीय है कि ध्रुवस्वामिनी राक्षस-विवाह द्वारा बलपूर्वक लायी गई थी। बलपूर्वक लायी गई स्त्री को वन्दी कहते थे। चन्द्रगुप्त के प्रसंग में ध्रुवस्वामिनी ने एक स्थान पर कहा भी है : "वही न, जो मुझे बंदिनी बनाने के लिए गये थे।"

अन्तःपुर के भीतरी समाचार जानने के लिए, 'अर्थशास्त्र' के अनुसार, राजा संचार (गुप्तचर) रखते थे जो कुब्ज (कुबड़ा), वामन (बौना), किरात (ठिगना), मूक (गूंगा), बधिर (बहरा), जड़ (मूर्ख) तथा अंधे का छद्म रूप धारण करते थे। गुप्तचर के काम में सुशिक्षित स्त्रियाँ भी होती थीं। खड्गधारिणी इसी प्रकार अवरोध के भीतर गूंगी का छद्म आचरण कर रही है। इसीलिए ध्रुवस्वामिनी कहती है : "अरे, तो क्या तुम बोलती भी हो? पर यह तो कहो, यह कपट-आचरण किसलिए?" कौटिल्य अन्यत्र भी कहते हैं : "अन्तर्गृह का समाचार लाने के लिए निम्न लोग चर या चार का काम करें—कुब्ज, वामन, वंचक, शिल्पवती स्त्री, मूक तथा म्लेच्छ जाति के लोग।" अवरोध (अन्तःपुर) के अध्यक्ष को 'आवरोधिक' या 'आन्तःपुरिक' कहते थे। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार अन्तःपुर के रक्षक वर्षवर या पण्ढ (हिजड़े) होते थे। कीथ के अनुसार ये हिजड़े स्त्रीस्वभावी और क्लीब होते थे, किन्तु इनमें कार्यदक्षता की कमी नहीं होती थी।

प्रसाद द्वारा प्रयुक्त 'प्रवर्त्तन-चक्र' शब्द भी विचारणीय है। इस सन्दर्भ में मन्दाकिनी की उक्ति द्रष्टव्य है : "नारी-हृदय, जिसके मध्यबिन्दु से हटकर, शास्त्र का एक मन्त्र कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल प्रवर्त्तन-चक्र में घूमने से

रोक रहा है।" प्रसाद अन्तिम वाक्यांश को इस प्रकार भी लिख सकते थे : 'और उसे प्रवर्त्तन या घूमने से रोक रहा है' ; पर उन्हे बौद्ध धर्म के पुनीत शब्द 'धर्मचक्रप्रवर्त्तन' का प्रयोग करना था जो प्रगति का प्रतीक है। इसीलिए उन्होने 'प्रवर्त्तन-चक्र में घूमना' का प्रयोग किया। साथ ही उपर्युक्त उद्धरण मे 'सरल' विशेषण के प्रयोग द्वारा उसमे उदारता का पुट भी दिया गया। वस्तुत: इस उक्ति मे अप्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मण धर्म के मन्त्रपरक आचार के प्रति विद्रोह है ; प्रसाद सरल प्रवर्त्तन-चक्र मे आस्था रखते थे।

एक और शब्द लीजिए—'इन्द्रजाल'। ध्रुवस्वामिनी की उक्ति मे उसका प्रयोग हुआ है : "अरे यह क्या ; मेरे भाग्यविधाता ! यह कैसा इन्द्रजाल ? उस दिन राजमहा-पुरोहित ने कुछ आहुतियो के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था, क्या वह अभिशाप था ? इस राजकीय अन्त:पुर मे सब जैसे एक रहस्य छिपाए हुए चलते है, बोलते हैं और मौन हो जाते है।" यहाँ 'इन्द्रजाल' शब्द उसके साथ किए गए समस्त छल-कपट को सकेत से स्पष्ट कर देता है। 'इन्द्रजाल' अथर्ववेदकालीन शब्द है, जिसका अर्थ था —अन्धकार मे डालना। परवर्ती सस्कृत-साहित्य मे इसका प्रयोग उस विधा के लिए हुआ है जिससे इन्द्रियाँ जाल से ढकी-सी आच्छादित हो जाये। तन्त्र-ग्रथो में इन्द्रजाल की अनेक विधियाँ है। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, आदि ऐन्द्रजालिक कृत्य थे। भ्रम पैदा करना इन्द्रजाल का मुख्य लक्ष्य होता है।

अब कुछ ऐसे शब्दो को लीजिए जिन्हे सामान्यत: भावपूर्ण और अर्थगौरवयुक्त कहा जा सकता है। प्रसाद ने शब्द मे इतिहास को ही जीवित नही रखा है, वरन् अर्थ के गौरव को भी समाहित किया है। इस प्रकार के शब्दो के प्रयोग मे उन्होने देशकाल-सस्कृति का सर्वथा ध्यान रखा है। ध्रुवस्वामिनी अन्त.पुर मे महादेवी के रूप मे है पर न तो उसे महादेवी के अधिकार प्राप्त है और न वैसी स्वतन्त्रता ही है। वह तो वहाँ बदिनी-जैसी है और उसे सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है—चारो ओर रहस्यमय वातावरण है। इस सन्दर्भ मे सन्ध्या होने पर दासी का ध्रुवस्वामिनी से यह निवेदन द्रष्टव्य है : "देवि, सायकाल हो चला है। वनस्पतियाँ शिथिल होने लगी है। देखिए न, व्योम-विहारी पक्षियो का झुण्ड भी अपने नीड़ो मे प्रसन्न कोलाहल से लौट रहा है। क्या भीतर चलने की अभी इच्छा नही है ?" 'नीड़' शब्द सुनते ही ध्रुव-स्वामिनी को अपने बदिनी होने का अनुभव हो उठता है। अपनी स्थिति पर क्षोभ प्रकट करते हुए वह कहती है : "चलूँगी क्यो नही ? किन्तु मेरा नीड कहाँ ? यह तो स्वर्णपिजर है।" यहाँ 'नीड' और 'स्वर्ण-पिजर' दोनो ही बडे सार्थक शब्द हैं। इनमे ध्रुवस्वामिनी के बदिनी-रूप का स्वत. चित्रण हो जाता है।

ध्रुवस्वामिनी की मानसिक स्थिति को प्रसाद ने रामगुप्त की शब्दावली मे भी सजीव रूप मे प्रकट किया है : "आह ! किन्तु ध्रुवदेवी ! उसके मन मे टीस है, जो स्त्री दूसरे के शासन मे रहकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसमे एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा। वही तो······नही, जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी, वह न जाने कब चोट कर बैठे ?" रामगुप्त की इस उक्ति मे 'टीस' शब्द मे

जिस पीड़ा की व्यंजना है वह किसी अन्य शब्द के प्रयोग से सम्भव न थी। 'टीस' की दीर्घ ध्वनि ही पीड़ा को साकार बना रही है। 'शासन' और 'प्रेम' शब्द भी साभिप्राय हैं—इधर रामगुप्त का शासन है और उधर है चन्द्रगुप्त का प्रेम। 'गम्भीर और व्यापक रस' से अनुभूतिमयी मानसिक स्थिति की ओर संकेत किया गया है। इसी प्रकार 'चोट' शब्द भी मार्मिक है।

प्रस्तुत नाटक में ध्रुवस्वामिनी द्वारा प्रयुक्त कतिपय अन्य शब्द भी विचारणीय हैं। एक स्थान पर अन्तःपुर की प्रतिहारी भट्टारक (राजा) को ढूंढती हुई ध्रुवस्वामिनी के पास आती है और पूछती है: "भट्टारक इधर आए हैं क्या?" ध्रुवस्वामिनी को इस प्रश्न से उत्सुकता नहीं होती, अपितु वह झुंझलाकर व्यंग्य करते हुए कहती है: "मेरे अंचल में तो छिपे नहीं हैं। देखो किसी कुंज में ढूंढो।" 'आंचर' या 'अँचरे में छिपाना' लोक-जीवन का मुहावरा है; इसे कितने उचित स्थल पर नाटककार ने प्रयुक्त किया है! इसके स्थान पर कोई भी शब्द अथवा वाक्य ध्रुवस्वामिनी की मानसिक स्थिति को इस रूप में व्यक्त नहीं कर सकता था। 'देखो किसी कुंज में ढूंढो' में रामगुप्त की 'विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त' रहने की प्रवृत्ति की ओर सुन्दर संकेत है।

एक स्थल पर ध्रुवस्वामिनी ने पुरुषों की क्रूरता पर यह आक्षेप किया है: "पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशुसम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है।" यहाँ 'अत्याचार करने का अभ्यास' बड़ा ही सजीव और समर्थ प्रयोग है। इससे पुरुष जाति के संस्कार का बोध होता है। आगे वह रोष प्रकट करते हुए कहती है: "मैं उपहार देने की वस्तु शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है।" यहाँ चन्द्रमणि से वह व्यंजना सम्भव नहीं है जो 'शीतल (चंद्र) मणि' से है क्योंकि शीतल के विरोध में नाटककार को आत्मसम्मान की ज्योति से उष्ण हृदय को चित्रित करना है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वारा आत्महत्या के लिए मना करने पर वह उससे कहती है: "कुमार, इसी समय तुम्हें भी आना था!······मुझे अपने अपमान में निर्वसन—नग्न देखने का किसी पुरुष को अधिकार नहीं! मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढक लेने दो।" यहाँ 'अपमान में निर्वसन' प्रयोग प्रसाद का अपना है, किन्तु है वह अत्यन्त उपयुक्त। 'निर्वसन' में जो व्यंजना है, वह नग्न में नहीं। 'निर्वसन' के बाद 'नग्न' का प्रयोग करके प्रसाद ने निर्वसन को और भी जीवन्त बना दिया है। यहां पुरुष पर, जिसने स्त्री पर केवल अत्याचार करना सीखा है, कटु व्यंग्य है। मृत्यु की चादर से ढक लेने में आत्म-मर्यादा की रक्षा है, इसीलिए नाटककार केवल मृत्यु न कहकर उसकी चादर से ढकने की बात कहता है। प्रसाद द्वारा सर्जित ये प्रयोग निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के शृंगार हैं।

ध्रुवस्वामिनी नहीं चाहती कि उसके प्राणों की रक्षा चन्द्रगुप्त द्वारा हो, वह किसी भी पुरुष से उपकृत होकर जीना पसन्द नहीं करती। इस तथ्य को नाटककार ने ध्रुवस्वामिनी द्वारा इस प्रकार व्यक्त कराया है: "जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्मविज्ञापन का भार ढोती रहूँ—यही क्या

विधाता का निष्ठुर विधान है !" यहाँ 'कृतज्ञ', 'उपकृत' और 'आभारी' में क्रमशः आभार का भार बढ़ता गया है; शब्द और शैली का सामर्थ्य द्रष्टव्य है। ध्रुवस्वामिनी की इस आवेशमयी स्थिति को देखकर चन्द्रगुप्त कहता है : "गुप्त-कुल-लक्ष्मी आज यह छिन्नमस्ता का अवतार किसलिए धारण करना चाहती है ?" यहाँ 'छिन्नमस्ता का अवतार' यद्यपि साधारण पाठक के लिए दुरूह है, किन्तु है उपयुक्त। 'छिन्नमस्ता' दुर्गा का शिररहित स्वरूप है। लक्ष्मी दुर्गा या चण्डी का रूप धारण करे—यह शोभनीय नहीं है। उपर्युक्त उक्ति के अन्तर्गत आत्महत्या की बात को सीधे न कहकर मर्यादित ढंग से व्यक्त किया गया है।

प्रसाद विशेषणों के प्रयोग में भी पटु हैं और उनके विशेषण किसी विशेष भाव की व्यंजना करते हैं। उदाहरणार्थ ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से पूछती है : "तुम्हारा विश्वासपूर्ण मुखमण्डल मेरे साथ आने में क्यों इतना प्रसन्न था ?" यहाँ 'विश्वासपूर्ण' से चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व के प्रति ध्रुवस्वामिनी के विश्वास को प्रकट किया गया है। 'विश्वासपूर्ण मुखमण्डल' में विशेषण और विशेष्य दोनों ही साभिप्राय हैं। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त की यह उक्ति द्रष्टव्य है : "मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था......।" आलोक मधुर नहीं होता, पर प्रसाद ने यहाँ 'मधुर' शब्द से मधुर स्मृति का बोध कराना चाहा है। 'ढालना' क्रिया भी साभिप्राय है—प्रेम का आलोक तभी मधुर हो सकता है जब अज्ञात भाव से ढाला गया हो। 'ढालना' ठेठ हिन्दी का शब्द है, पर है कितना सामर्थ्यवान् ! इस छोटे-से शब्द के लिए पर्याय की खोज सरल न होगी। वैसे, पर्यायों का एकसाथ प्रयोग करने में भी प्रसाद पटु हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में एकसाथ दो पर्यायों का प्रयोग करके भाषा को सशक्त बनाने का कौशल प्रकट हुआ है। उदाहरण के लिए जब चन्द्रगुप्त अकेले ही जाने का हठ करता है तब ध्रुवस्वामिनी कहती है : "कुमार ! यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे, ऐसा नहीं हो सकता।" यहाँ 'मृत्यु' और 'निर्वासन' पर्याय हैं, पर निर्वासन में वध का भाव है; इसीलिए नाटककार ने इन दोनों शब्दों का एकसाथ प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'विनोद' और 'परिहास' भी पर्याय हैं, पर लेखक ने प्रभविष्णुता के लिए दोनों का एकत्र प्रयोग किया है : "मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय मैं भी एक विनोद, प्रलय का परिहास, देख सकूंगी।" यहाँ 'विनोद' में आनन्द की व्यंजना है। 'प्रलय' मृत्यु ही है—उस मृत्यु को वह 'प्रलय की हँसी' कहती है। प्रसाद की रचनाओं में इस प्रकार की काव्यमयी शैली की प्रधानता सर्वत्र लक्षित होती है।

भाव की प्रभविष्णुता तथा रस के संचार के लिए प्रसाद ने एक ही भाव को विभिन्न शब्दों से व्यक्त किया है। किन्तु, ऐसे सभी शब्दों का अपना निजी महत्त्व है। उदाहरणार्थ शकराज द्वारा कोमा से यह कहने पर, "अच्छा, तुम इतनी अनुभूतिमयी हो, यह मैं आज जान सका", कोमा उत्तर में सस्नेह निवेदन करती है : "राजा, तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के

नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त की, और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी वन गई हूँ।" यहाँ 'स्नेह-सूचना' प्रसाद का अपना प्रयोग है। 'सूचना' का प्रयोग भावपूर्ण अभिनय अथवा इशारे के लिए होता है—'स्नेह-सूचना' में राजा द्वारा की गई प्रेमपरक भावाभिव्यक्ति व्यंजित है। इसी प्रकार युद्ध की भीषण स्थिति से दुःखी होकर कोमा ने एक स्थल पर कहा है : "वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है ?" यहाँ 'अलस' का अर्थ है—मन्द, आलसी और उदास। इसीलिए कहा गया है कि उसके स्पर्श से कोई प्रभावित नहीं हो रहा है; सब युद्ध-विग्रह में लगे हुए हैं।

प्रसाद ने सामान्य जीवन की बोलचाल के कितने ही शब्दों के यथास्थान प्रयोग द्वारा भावाभिव्यक्ति में सफलता प्राप्त की है। शकराज खिंगल से पूछता है : "कहो जी, क्या समाचार है ?" इससे शकराज का हलकापन प्रकट हो रहा है। यह थी उसकी मदिरापान से प्रमत्तता की स्थिति ! उत्तर में खिंगल कहता है : "यह छोकड़ा रामगुप्त, समुद्रगुप्त की तरह दिग्विजय के लिए निकला था।" यहाँ 'छोकड़ा' से राम-गुप्त के प्रति अनादर और उपेक्षा का भाव व्यक्त हुआ है। एक अन्य स्थल पर विजय की खुशी में एक सामन्त द्वारा कहलाया गया है : "इतनी वड़ी विजय के अवसर पर उस सूखे उत्सव से सन्तोष नहीं होता जवकि कलश सामने भरा हुआ है।" यहाँ 'सूखा' शब्द नीरसता को व्यक्त करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त रहा है। इसी प्रसंग में एक अन्य सामन्त कहता है : "क्यों वकवक करते हो ? चुपचाप इस विना परिश्रम की विजय का आनन्द लो। लड़ना पड़ता तो सारी हेकड़ी भूल जाती।" यहाँ 'वकवक', 'चुपचाप' और 'हेकड़ी' के प्रयोग से कथोपकथन स्वाभाविक और सजीव हो गया है। मत्त सामन्तों की भाषा-शैली में जो ढीलापन और वहक होनी चाहिए, उसके अनुकूल ही हैं ये प्रयोग। अन्यत्र 'रूठना' शब्द का भी वड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है। शकराज कहता है : "कोमा, तुम रुठी हुई-सी क्यों वोल रही हो ?" कोमा प्रत्युत्तर में कहती है : "रूठने का सुहाग मुझे मिला कव ?" 'रूठने' का कोई भी समानार्थक शब्द ऐसी ध्वनि नहीं दे सकता था। वैसे भी, 'रूठने का सुहाग' में अद्भुत सादगी और सहजता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में क्रिया के उल्लेखनीय प्रयोगों के उदाहरण भी कम नहीं हैं। इस सन्दर्भ में कोमा की यह उक्ति द्रष्टव्य है : "प्रणय, प्रेम ! जव सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश पुंज उँडेल देता है।" यहाँ 'उँडेलना' क्रिया का भाव किसी अन्य शब्द से व्यक्त नहीं हो सकता। वैसे, चन्द्रगुप्त ने इसी भाव को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है : "मेरे हृदय के अंधकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था।" क्रिया के सफल प्रयोग की दृष्टि से शकराज के प्रति कोमा की यह उक्ति भी द्रष्टव्य है : "किन्तु राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले विना नहीं हो सकता ?" यहाँ 'कुचलने' में

जिस क्रूरता, पाशविकता तथा अनर्थ-कार्य का संकेत है, उसे किसी अन्य क्रिया से व्यक्त नहीं किया जा सकता। कोमा की शकराज के प्रति यह उक्ति भी देखिए : "प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे धीरे दूर हो जायेगी। राजा मैं तुम्हें प्यार नहीं करती।" यहाँ 'पीड़ा थी जो छूट गई' में जो भाव है वह 'दूर हो गई' में सम्भव नहीं था। 'पीड़ा', 'प्यार', 'कसक' आदि ठेठ शब्दों का प्रयोग भी प्राणवन्त है। इसी प्रकार प्रसाद ने उंहुँ, उँह, हैं, हैं-हें-हें, ऊँ-हूँ, वाह, आहा, वाह रे, हाँ, ऐं, हाँ जी, कहो जी आदि बोली के प्रयोगों को भी बड़े कौशल से प्रयुक्त किया है। इनसे शैली में सहज बल आ गया है, भावों को स्पष्ट करने में सहायता मिली है और कथोपकथन में स्वाभाविकता आ गई है। प्रसाद लोकजीवन में प्रयुक्त शब्दों और प्रयोगों की पकड़ में कितने कुशल थे, यह भी इनसे भलीभाँति ज्ञात हो जाता है।

प्रस्तुत नाटककार ने कुछ स्थलों पर सम्बोधन-सूचक शब्दों का भी कुशल प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ ध्रुवस्वामिनी द्वारा रामगुप्त से शरण की याचना देखिए : "मेरी रक्षा करो। मेरे लिए अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ।" यहाँ 'राजा' को सम्बोधन-रूप में साभिप्राय प्रयुक्त किया गया है। इसके विपरीत एक अन्य स्थल पर ध्रुवस्वामिनी ने अपने आत्मसम्मान पर प्रहार होने के कारण रामगुप्त को 'अनार्य' कहा है : "अनार्य! निष्ठुर! मुझे कलंक-कालिमा के कारागार में बन्द कर, मर्मवाक्य के धुएँ से दम घोंटकर मार डालने की आशा न करो।" 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' कहती है, किन्तु पत्नी को निर्वासित करनेवाले पति को प्रसाद ने यहाँ 'अनार्य' कहलाया है—इसमें घृणा का भाव स्पष्ट है; और ध्रुवस्वामिनी की मर्मांतक पीड़ा की पराकाष्ठा भी यहाँ व्यक्त रही है। नाटक के उत्तरार्द्ध में शकराज को धोखे में डालने के लिए ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को 'चन्द्रे' (स्त्री) सम्बोधन से पुकारती है। इस प्रसंग में यह बताना असंगत न होगा कि महरौली (दिल्ली में एक स्थान) के लौह-स्तम्भ पर 'चन्द्र' नामक राजा की विजयों का वर्णन है। यह चन्द्र, विद्वानों की राय में, चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है। इस प्रकार 'चन्द्र' भी चन्द्रगुप्त का ही नाम था। कामुक शकराज इस संकेत से भी चन्द्रगुप्त को न भाँप पाया। प्रसाद का यह सम्बोधन साभिप्राय है।

शब्दों के यथास्थान प्रयोग द्वारा प्रसाद ने यह भी प्रकट किया है कि वे हास्य-व्यंग्य के चित्रण में भी पटु हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में गर्भांक रूप में खेला गया 'दिग्विजय का नाटक' निस्सन्देह अपने उद्देश्य में सफल है—वामन, कुबड़ा और हिजड़ा इसके पात्र हैं। यह नाटक रामगुप्त की क्लीवता को मुखरित कर देता है। वामन की बलिविजय-गाथा तथा कुबेर—नलकूबर—की विलासप्रियता के अवलम्बन द्वारा हास्य की सृष्टि सफलतापूर्वक की जा सकी है। यहाँ वामन के रूप में 'बौना' तथा कुबेर अथवा नलकूबर के रूप में 'कुबड़ा'—ये दोनों ध्यान आकृष्ट करते हैं। बौना कुबड़े से कहता : "सुनता है रे! तू अपना हिमाचल इधर कर दे—मैं दिग्विजय करने के लिए

कुबेर पर चढ़ाई करूँगा।" हिजड़े से वह कहता है : "कूबड़ तुम्हारे नीचे है, तब मैं कैसे मान लूँ कि तुम न तो नलकूबर हो और न कुबेर!" इस पर हिजड़ा कुबड़े और बौने को सम्बोधित करके कहता है : "बहनो, कोई मुझसे ब्याह भले ही कर सकता है, लड़ाई मैं क्या जानूँ ?" इस उक्ति में रामगुप्त की नपुंसकता पर बड़ा खरा व्यंग्य किया गया है। यहाँ 'हिमाचल', 'कुबेर', 'नलकूबर', 'बहनो' आदि से हास्य को सफलतापूर्वक निष्पन्न किया गया है। विकलांगों के प्रदर्शन, असंगत कथन, विकृत वेश आदि हास्य रस के विभाव होते ही हैं।

प्रस्तुत कृति में व्यंग्य के प्रसंग भी कम नहीं हैं। अमात्य द्वारा राष्ट्र की रक्षा के लिए रानी के विसर्जन की बात कहने पर रामगुप्त उसकी प्रशंसा करते हुए कहता है : "वाह! क्या कहा तुमने। तभी तो लोग तुम्हें नीतिशास्त्र का बृहस्पति समझते हैं।" इस पर ध्रुवस्वामिनी अमात्य के प्रति व्यंग्यपूर्वक कहती है : "अमात्य, तुम बृहस्पति हो चाहे शुक्र, किन्तु धूर्त्त होने से क्या मनुष्य भूल नहीं कर सकता ?" बृहस्पति और शुक्र नीतिशास्त्र के प्रमुख रचयिता हैं। ध्रुवस्वामिनी ऐसे नीतिशास्त्रज्ञ को, जो पत्नी को उपहार में देने की स्वीकृति देता है, 'धूर्त्त' कहती है। यह उचित ही है, क्योंकि उसने नीति की ही आड़ में युवराज चन्द्रगुप्त के स्थान पर रामगुप्त को राजा बनाया और अब रानी को दूसरे पुरुष की अंकशायिनी होने के लिए भेज रहा है।

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद की भाषा का विवेचन-विश्लेषण करने पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वे शब्दों के चुनाव और उनके उचित प्रयोग में अत्यन्त कुशल हैं। उन्हें शब्द के इतिहास का, समसामयिक संस्कृति से उसके सम्बन्ध का, सम्यक् ज्ञान है—वे प्रत्येक शब्द का प्रसंग के अनुसार यथास्थान प्रयोग करके अपना आशय सुस्पष्ट कर सके हैं। किन्तु, प्रसाद के अभिप्राय को समझने के लिए उसी स्तर का पाठक या दर्शक भी चाहिए अन्यथा शब्दों के सामर्थ्य का, उनके प्रसंगानुकूल प्रयोग का, एवं उनमें निहित आशय का आनन्द नहीं उठाया जा सकता। प्रसाद सचमुच भारतीय संस्कृति के पण्डित हैं और शब्दों के माध्यम से उसे वे चित्रित कर सके हैं। उनकी भाषा-शैली एवं अभिव्यक्ति-प्रणाली का नाटकगत देशकाल से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उनके पारिभाषिक शब्दों को समझे बिना समसामयिक वातावरण को नहीं समझा जा सकता। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने प्राचीन को स्वीकार करके वर्तमान की उपेक्षा नहीं की है—लोक-जीवन के सशक्त प्रयोगों को भी वे उसी सफलता से अपना सके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद शब्द-मणि के सच्चे पारखी और प्रयोक्ता थे; शब्द-कला में प्रवीण थे।

●

रंगमंचीय क्षमता

श्री राजेन्द्रनाथ

जयशंकर प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में एक सामान्य धारणा यह है कि वे अभिनेय नहीं हैं। इसके समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि उनके नाटकों में दृश्यों का बाहुल्य है और वे विभिन्न स्थलों पर घटित होते हैं। इसी प्रकार उनके नाटकों में संवादों की भाषा क्लिष्ट बताई जाती है और यह कहा जाता है कि उनमें संकलन-त्रय का निर्वाह नहीं हुआ है।

इस प्रकार की आलोचना अभिनेयता के वास्तविक प्रश्न से दूर भागने के समान है। जो लोग इस प्रकार की आलोचना करते हैं वे इस सत्य से अनभिज्ञ हैं कि नाटकों को रंगमंच पर किस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है। वे संभवतः सोचते हैं कि यदि रंग-संकेतों में नाटककार ने किसी उद्यान का दृश्य प्रस्तुत किया है तो उनमें उल्लिखित सभी वृक्ष तथा लताएँ मंच पर दृश्य-सज्जा के लिए आवश्यक हैं। इस कोटि के समालोचक यह सोचकर चलते हैं कि नाटककार के रंग-संकेतों के अनुरूप ही दृश्य-विधान होना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि नाटक को अनभिनेय घोषित किया जाता है। ऐसे समालोचकों से मुझे यही कहना है कि नाटक पर विश्वास कीजिए; रंग-संकेतों पर विश्वास करना आवश्यक नहीं है क्योंकि इस दिशा में महान् से महान् नाटक भी भटक जाता है। अगर दृश्यविधान और रंग-संकेतों को लेकर किये गए आक्षेपों पर ही निर्भर रहें तो यह निश्चित है कि कालिदास और शेक्सपियर का संपूर्ण नाट्यसाहित्य अनभिनेय मान लिया जायेगा। किन्तु, सत्य यह है कि विशिष्ट दृश्य-विधान और रंग-संकेतों के बावजूद उनका अभिनय होता है।

मेरी दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो किसी नाटक के विषय में उठाया जाना चाहिए, वह यह नहीं है कि नाटक अभिनेय है या अनभिनेय, वरन् यह है कि वह रंग-मंच पर प्रस्तुत करने योग्य है भी या नहीं? यदि है तो फिर इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि वह कितना बड़ा है अथवा उसके मंचन में कितनी कठिनाइयाँ हो सकती हैं। यदि नाटक साहित्यिक दृष्टि से गुण-संपन्न है तो निश्चयतः उसे मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

इस आधार पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो हमारे मन में उठती है वह यह है कि आलोच्य नाटक का साहित्य में क्या महत्त्व है। इसी के साथ एक प्रश्न यह भी जुड़ा हुआ है कि उसका मुख्य विषय क्या है? ऐसे प्रश्न पूछना सरल है, किन्तु इनका उत्तर देना कठिन है। जहाँ तक 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रश्न है उसमें निहित उद्देश्य को ढूंढ पाना कठिन कार्य नहीं है। प्रसाद ने उसकी अभिव्यक्ति नाटक में तो की ही है; उसे पर्याप्त न समझकर भूमिका में भी उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस नाटक का

मुख्य उद्देश्य समाज में नारी का स्थान निर्धारित करना है और उसे मोक्ष का अधिकार प्रदान करना है। १९३३ ई० में, जब 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रकाशन हुआ था, इसे किसी भी नाटक के लिए क्रांतिकारी विपयवस्तु माना जा सकता है।

जहाँ तक एक सुनिश्चित समाज-व्यवस्था में नारी की स्थिति के चित्रण का प्रश्न है, प्रसाद को अभूतपूर्व सफलता मिली है। वे स्पष्टत: इस तथ्य का निरूपण करते हैं कि रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी के साथ अमानवीय व्यवहार करता है। वह उसे पशुसंपत्ति समझता है और उसकी मर्यादा की रक्षा न करके उसे शकराज को उपहार में देने पर लज्जित नहीं होता। ध्रुवस्वामिनी इस यंत्रणा को उसी भाँति झेलती है जैसे कि आज तक भारत की रमणियाँ झेलती आई हैं। प्रसाद की सदाशयता इस वात में है कि उन्होंने नारी के पक्ष को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार औचित्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने नारी की स्वतंत्रता के विचार का पोपण करना अपना उद्देश्य बनाया और वे उसे अंतत: मुक्ति दिलाकर ही माने। यहीं पर, जबकि सब-कुछ निर्णीत हो जाता है, एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उभरकर सामने आता है : उसे मुक्ति किस प्रकार दिलाई गई ? नाटक की प्रकृति इस वात की अपेक्षा करती है कि ध्रुवस्वामिनी अपनी साहसपूर्ण मुक्ति के लिए स्वयं उत्तरदायिनी होती। तभी उसकी नवार्जित मुक्ति और स्वतन्त्रता का कोई वास्तविक मूल्य और अर्थ होता, और तभी—केवल तभी—नाटकीय दृष्टि से यह संतोपप्रद अनुभव होता ! किन्तु, दुर्भाग्य से यह मुक्ति ध्रुवस्वामिनी के हाथों से सिद्ध नहीं होती, जिससे सारे नाटक की आधार-भित्ति ही दुर्बल नहीं दिखाई देती है, इस महत्त्वपूर्ण विपय पर नाटक का चिंतन भी दुर्बल पड़ जाता है। स्पष्ट है कि ध्रुवस्वामिनी के प्रयासों के वावजूद उसकी मुक्ति केवल उसकी शक्ति पर आधारित नहीं है—उसकी मुक्ति की प्रेरणा परिस्थितियों की विवशता से जन्म लेती है और इसके लिए भी वह शास्त्र का मुँह जोहती है। ध्रुवस्वामिनी वस्तुत: दासता की शृंखलाएँ तोड़कर अपने को मुक्त नहीं करती, वरन् कोई दूसरा उसके लिए मुक्ति का द्वार खोल देता है। और यह सब ऐसी स्थिति में नहीं होता, जबकि उसके पास विकल्प न हो। विकल्प है, और एक युक्तिसंगत विकल्प : ध्रुवस्वामिनी अपनी मुक्ति का समर्थन पुरोहित से चाहती है ! प्राय: इस विपय में प्रसाद का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि वे धर्म और शास्त्र की सीमा में समस्या का समाधान ढूँढ निकालने के लिए वाध्य थे। इस सम्बन्ध में मेरा उत्तर यह है कि धर्म की संकीर्ण सीमाओं के वीच से ही यदि प्रसाद को कोई समाधान निकालना था तो फिर ऐसी समस्या लेने की आवश्यकता ही क्या थी ? सामाजिक बुराइयों पर आघात करने के लिए मौलिक और साहसिक उपायों से काम लेने की आवश्यकता होती है। यदि वे अत्यन्त क्रांतिकारी नहीं हैं तो उन्हें क्रांतिकारी कहा ही नहीं जा सकता। जहाँ तक विवाह का प्रश्न है, स्वयं प्रसाद भी इतिहास के इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकते थे : चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का विवाह-सम्बन्ध ऐतिहासिक तथ्यों से प्रमाणित है। किन्तु, रामगुप्त की हत्या के वाद यह विवाह वहुत महत्त्वपूर्ण

विचार को पुष्ट नहीं कर पाता ! सामान्यतः यह माना जाता है कि चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की हत्या की थी, किन्तु प्रसाद ने यह हत्या सामंतकुमार द्वारा कराके इतिहास को ही नहीं झुठलाया है, वरन् इस झूठ को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया है। किन्तु, सच पूछा जाये तो इससे प्रसाद के उस विचार को, जो नाटक के केन्द्र में स्थित है, बड़ा आघात पहुँचा है।

ख़ैर, किसी नाटक के दोष निकालना एक बात है और उसके सुधार के लिए सुझाव देना दूसरी। वास्तव में यह खतरनाक भी हो सकता है। मैं इस ख़तरे को इस ध्येय से लेने के लिए तैयार हूँ कि कुछ परिवर्तनों के साथ यह नाटक रंगमंच पर अधिक प्रभावशाली हो सकता है। शकराज की हत्या तक नाटक का कलेवर ज्यों का त्यों रखा जा सकता है। ध्रुवस्वामिनी अपने संघर्ष में जहाँ सफल हो जाती है, वहीं पर उसकी मुक्ति की घोषणा उसके मुख से व्यक्त होनी चाहिए। संभव है कि इसके लिए उसे चन्द्रगुप्त की प्रेरणा की आवश्यकता पड़े, किन्तु इसमें कोई हानि नहीं। यह विचित्र है कि नाटक में ध्रुवस्वामिनी के संप्रदान और शकराज के वध के पश्चात् विजय का समाचार पाकर रामगुप्त फिर इस प्रकार अधिकार जताने आता है जैसे कि अब भी वह ध्रुवस्वामिनी का पति हो। प्रसाद के लिए उचित यह होता कि यहाँ पर ध्रुवस्वामिनी को सर्वथा एक नयी नारी के रूप में प्रस्तुत किया जाता। वह मुक्ति के लिए अपने तर्क स्वयं उपस्थित कर सकती थी—इसके लिए पुरोहित की क्या आवश्यकता है ? ऐसी स्थिति में रामगुप्त का रोष उसकी कायरता का ही द्योतक बनकर रह जाता और अन्त में शिखर-स्वामी का भी समर्थन न मिलने पर वह असहाय अवस्था में दिखाई देता है। इस स्थिति में रामगुप्त की हत्या बहुत आवश्यक न होती। यदि निर्देशक की रुचि हत्या में ही हो तो उसकी हत्या की जा सकती है, अन्यथा मैं इसे इतना आवश्यक न मानकर यही ठीक मानता हूँ कि उसे पीछा करते हुए सिपाहियों के साथ मंच से भागते हुए दिखाया जाये। सारे दृश्य को इस रूप में नियोजित किया जा सकता है कि उससे यह संकेत मिले कि अब भाग्य-चक्र ध्रुवस्वामिनी के हाथ में आ गया है और वह अपने बल से उसे जिधर चाहे उधर ही मोड़ने में समर्थ है। इस प्रकार के परिवर्तन से दो लाभ होंगे। मुख्य लाभ यह होगा कि नाटक की मुख्य समस्या से संबद्ध विचार को इससे पुष्टि मिलेगी। इसके साथ ही गौण रूप से रामगुप्त का चरित्र भी प्रस्तुत हो सकेगा। विचारणीय यह है कि किसी नाटक में नाटककार अपने पात्रों के प्रति, चाहे वे कितने ही पतित और दुर्जन क्यों न हों, यदि सहानुभूति नहीं जगा पाता तो यह समझ लेना चाहिए कि वह अपने दायित्व में असफल रहा है। नाटककार को दुष्ट से दुष्ट चरित्र से भी स्नेह करना पड़ता है। प्रसाद का रामगुप्त इसका अपवाद है, भले ही नाटक में ध्रुवस्वामिनी के बाद वह सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र है। वस्तुतः प्रारंभ से लेकर अन्त तक प्रसाद ने उस पर कालिमा पोतने का प्रयत्न किया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका चरित्र किसी विशिष्ट हित-साधन के लिए नियोजित किया गया हो। यदि प्रसाद ने उसे असहाय स्थिति में परिस्थितियों का शिकार

वनाकर चित्रित किया होता तो दर्शक या पाठक के मन में उसके प्रति सहानुभूति का भाव उद्‌बुद्ध हुए विना न रहता।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि प्रसाद पर इब्सेन का प्रभाव है या नहीं ? इसमें सन्देह नहीं कि 'ध्रुवस्वामिनी' पढ़ते हुए इब्सेन के नाटकों का स्मरण अवश्य हो आता है। मैं यहाँ निश्चयतः 'दि डॉल्स हाउस' का सन्दर्भ देना चाहता हूँ। मानवता की पृष्ठभूमि में प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' और इब्सेन के 'दि डॉल्स हाउस' में आधारभूत असमानता नहीं है। मैं यहाँ केवल दोनों नाटकों के अन्त की तुलना करना उचित समझता हूँ जो दोनों नाटककारों के वीच के नैतिक साहस की खाई को प्रकट करते हैं। 'दि डॉल्स हाउस' में नोरा घर छोड़कर चली जाती है जो आत्यंतिक साहस का परिचायक है। वह पति का ही त्याग नहीं करती, वरन् अपने वच्चों को भी त्याग देती है और त्यागने के वाद किसी दूसरे पुरुष के पास जाने की अपेक्षा उन्मुक्त संसार में पदार्पण करती है। निश्चयतः वह नाटक की अद्वितीय पात्रा है और हमें उसका स्थान सम्पूर्ण नाटक की संरचना में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। साधारणतः वह ऊपरी दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी की तुलना में विरोधी प्रकृति की पात्रा दिखाई देती है। यह धारणा इसलिए वन जाती है कि जहाँ ध्रुवस्वामिनी अन्त में संघर्ष करती है, कोमा उन्हीं परिस्थितियों में धैर्य के साथ सारा तिरस्कार चुपचाप सह लेती है। प्रसाद ने कहीं उसकी विद्रोहिनी प्रवृत्ति का संकेत नहीं दिया है। उसका चरित्र निष्क्रिय अथवा निश्चेष्ट है। अतः विद्रोह उसके स्वभाव का अंग नहीं है। यह एक सुन्दर वैषम्य होता यदि प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया होता। किन्तु, जैसा कि इस नाटक में हुआ है, इन दोनों में कोई वड़ा भेद दिखाई नहीं देता। यदि कुछ अन्तर है भी तो यह कि एक अपनी यंत्रणाओं के संवंध में मुखर और अपने अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूक है, किन्तु दूसरी मानो उदासीन है। फिर भी, ध्रुवस्वामिनी की कर्तृत्व-भावना को प्रसाद उभार नहीं पाये। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त से मुक्ति प्राप्त करती है— कहना एक वात है और वह मुक्ति के लिए सक्रिय है—कहना विलकुल दूसरी वात। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि ध्रुवस्वामिनी और कोमा दोनों रूढ़िग्रस्त समाज-व्यवस्था की शिकार हैं और यह संयोग की ही वात समझिए कि एक को अपनी वलि देनी पड़ती है, परन्तु दूसरी अपने प्राणों की रक्षा कर पाती है!

यद्यपि प्रसाद ने इतिहास का प्रयोग अपनी नाटकीय सुविधा के अनुसार किया है, किन्तु फिर भी चन्द्रगुप्त को इस रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका कि वह हमें अधिक प्रभावित करे। क्या वह भी ध्रुवस्वामिनी और कोमा की ही तरह नहीं है ? उन्हीं की भाँति वह भी परिस्थितियों का शिकार है। एक ओर रामगुप्त ने उसके राज्याधिकार का अपहरण किया है, दूसरी ओर उसकी वाग्दत्ता ध्रुवस्वामिनी का। विनय के आवरण में वह अंत तक इस विडंवना को स्वीकार किये जाता है। उसके मार्ग में कौन-सी वाधा थी ? अपने वड़े भाई के प्रति सम्मान का भाव ? किन्तु, भाई

कौन ? रामगुप्त ! क्या यह अन्याय की स्वीकृति नहीं है ? साधारणतः यह बात समझ में नहीं आती कि प्रसाद ने उसे इसी रूप में चित्रित करना क्यों आवश्यक समझा ? नाटकीय परिस्थिति के लिए भी यह अपेक्षित नहीं था। ठीक इसके विपरीत नाटक का तर्क एक ऐसे व्यक्तित्व की अपेक्षा करता है जो गुणसंपन्न ही न हो, वरन् शूरवीर और दृढ़ भी हो। भावी शासक की सभी अर्हताएँ उसमें हों, ऐसी आशा करना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में चन्द्रगुप्त अपना पूरा प्रभाव डालने में असमर्थ दिखाई देता है। वस्तुतः रामगुप्त और चन्द्रगुप्त स्थितिविशेष में एक-जैसे दिखाई पड़ते हैं। चन्द्रगुप्त हिजड़े-बौने-कुबड़े के संकेत पर स्त्री का वेश बनाकर शकराज पर विजय प्राप्त करने का संकेत ग्रहण करता है। सचमुच क्या वह 'स्त्री' नहीं है ? मुझे संदेह है कि स्त्री-वेश धारण करने के पीछे केवल उसकी सूझ-बूझ थी—क्या यह उसके 'स्व' की अभिव्यक्ति नहीं है ?

इसी संदर्भ में एक और पात्र—मंदाकिनी—का भी उल्लेख करना उचित होगा। मेरी दृष्टि में प्रस्तुत नाटक के स्त्री पात्रों में नारी के अधिकारों को वाणी देने में वह सबसे अधिक मुखर है। प्रकट रूप में नाटक की संरचना से उसका समाकलन नहीं हो पाया है, क्योंकि वह नाटक की मुख्य घटना से सम्बद्ध नहीं है। इसीलिए जब भी वह मंच पर उपस्थित होती है, अनाहूत-सी लगती है। किन्तु, यदि हम उसे नाटक के क्रिया-व्यापार से संबद्ध पात्र की अपेक्षा कोरस के रूप में लें तो वह नाटक का महत्त्वपूर्ण अंग बन जाती है। ऐसी स्थिति में वह नाटक की महत्त्वपूर्ण निधि है जो समस्या को और स्पष्ट करने में सहायता देती है। एक अच्छा निर्देशक इसीलिए उसकी टीका-टिप्पणी की उपेक्षा नहीं कर सकता।

नाटक में हास्य-विनोद का समावेश उसे दर्शकों के लिए रुचिकर बनाने में सहायक होता है, किन्तु इसमें एक ख़तरा भी रहता है। प्रायः हास्य-विनोद के दृश्य श्रोता या दर्शक को मूल समस्या से दूर ले जाते हैं। प्रसाद ने कुबड़े, हिजड़े और बौने का दृश्य उपस्थित करके नाटक को रोचक ही नहीं बनाया है, वरन् हास्य-व्यंग्य को नाट्यपरिस्थिति के बीच से ही उभारने का प्रयत्न किया है। कुबड़ा, हिजड़ा और बौना—ये तीनों पात्र रामगुप्त की पौरुषहीनता का सांकेतिक अभिनय ही नहीं करते, वरन् उसके तीन विभिन्न रूपों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका उपयोग प्रसाद चाहते तो और अधिक उदारता से कर सकते थे।

रंगमंच के संदर्भ में भाषा पर विचार करना भी आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रसाद के आलोचक एकमत हैं कि उनकी भाषा क्लिष्ट है। यह तर्क मेरी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऐसा निर्णय भ्रामक ही नहीं, निरर्थक भी है। प्रसाद की भाषा कठिन है, किन्तु किसके लिए ? आलोचकों के लिए ? नहीं, शायद उनका अहं यह स्वीकार न करे। शायद वे यह स्वीकार भी करें कि कई स्थलों पर प्रसाद की भाषा उनके लिए भी कठिन है ! सामान्य पाठक और प्रेक्षक के लिए भी कोई भाषा कठिन हो सकती है और उसे नाटक का दोष माना जा सकता है; किन्तु यह अनिवार्य नहीं

है। रंगमंच के संदर्भ में भाषा की क्लिष्टता कोई अर्थ नहीं रखती। अर्थ रखती है तो केवल यह बात कि नाटक की भाषा अभिनेय या नाटकीय है या नहीं। 'ध्रुवस्वामिनी' की भाषा के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। मेरी दृष्टि में उसकी भाषा क्लिष्ट न होने पर भी नाटकीय सघनता से परिपूर्ण नहीं है। इसमें वह निर्दिष्ट सक्रियता और अंतरंग स्पर्श नहीं है जो किसी नाटक की भाषा के लिए आवश्यक तत्त्व है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की ऐसी नाट्यकृति है जो अपनी सीमाओं के बीच साहित्यिक गुण-संपन्न होने के साथ साथ रंगमंचीय अर्हताओं से भी हीन नहीं है।



अभिनेयता

श्री शैलेन्द्र

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की अनुपम नाट्यकृति है, जिसमें उनकी नाट्यकला सौष्ठव एवं पूर्णता को प्राप्त होती दिखायी देती है। इसका साहित्यिक और नाटकीय पक्ष तो सुदृढ़ है ही, किन्तु क्या यह नाटक इतनी ही सफलता के साथ रंगमंच पर भी अभिनीत किया जा सकता है ? यह प्रश्न इसलिए विचारणीय है कि अभिनय के अभाव में नाटक की कल्पना ही नहीं की जा सकती।[1] दूसरे शब्दों में, नाटक का अर्थ ही अभिनय है। नाटक की उत्पत्ति के क्षण से ही उससे अभिनय जुड़ा हुआ है। रंगमंच को अभिव्यक्ति देने के लिए ही लिखित अथवा अलिखित नाट्यकृति की सृष्टि हुई, क्योंकि नाटक ही तो अपने मूर्त्त और व्यापक अर्थ में रंगमंच है। नाटक और रंगमंच एक-दूसरे के कार्य और कारण हैं। दूसरे शब्दों में, एक-दूसरे के पूरक, यहाँ तक कि एक-दूसरे के पर्याय भी हैं। नाटक के लिए अभिनेयता का गुण अनिवार्य होता है और रंगमंच की दृष्टि से असफल नाटक, चाहे उसका साहित्यिक पक्ष कितना ही कलापूर्ण और उत्तम क्यों न हो, श्रेष्ठ नाटक की कोटि में नहीं गिना जा सकता। प्रसाद भी इस तथ्य को स्वीकार करते थे। उन्होंने अपने नाटकों की रचना में अभिनेयता के तत्त्व की सर्वथा अवहेलना नहीं की। किन्तु, दुर्भाग्यवश उन्हें रंगमंच का व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण उनके नाटक न्यूनाधिक रूप में अभिनेयता के गुण से विहीन रह गये। प्रायः प्रसाद के इस कथन को पढ़कर कि "रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायें; प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो" उन पर यह आरोप लगाया गया है कि वे रंगमंच की उपेक्षा करते थे और व्यावहारिक रंगमंच से अलग रहना चाहते थे। परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। प्रसाद के कथन से यह आशय लेना सर्वथा भ्रमपूर्ण है। सच पूछा जाये तो भारतेन्दु की भाँति प्रसाद भी तत्कालीन व्यावहारिक पारसी थियेटर के भोंडे और कुरुचिपूर्ण अभिनय से क्षुब्ध थे और ऐसे रंगमंच से अपने नाटकों को कदापि जोड़ना नहीं चाहते थे। किन्तु, इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि वे रंगमंच से दूर रहना चाहते थे या नाटक के अभिनयात्मक पक्ष की अवहेलना करते थे। बल्कि वे तो अपने साहित्यिक एवं कलात्मक नाटकों द्वारा अभिनय और रंगमंच का स्तर सुधारना चाहते थे, अभिनय के नाम पर शुद्ध और शिष्ट अभिनय-कला का प्रसार करना चाहते थे। इस सन्दर्भ में उपर्युक्त कथन के आगे उन्होंने जो कुछ कहा है, वह ध्यान देने योग्य है : "रंगमंच पर

---

१. देखिए 'शोध और समीक्षा', डॉ० सुरेशचंद्र गुप्त, 'नाटक और रंगमंच' शीर्षक लेख, पृष्ठ ४२-४३।

सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देशकाल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिन्दी-रंगमंच का अभ्युत्थान सम्भव है।"[1] स्पष्ट है कि प्रसाद हिन्दी-रंगमंच का उत्थान करना चाहते थे और यह मानते थे कि यह कार्य केवल सुशिक्षित, सुसंस्कृत और कुशल रंगकर्मियों के सहयोग से ही सम्पन्न हो सकता है।

इस प्रकार अपनी नाट्यकृतियों की रचना करते समय प्रसाद को उनके साहित्यिक पक्ष के साथ साथ रंगमंचीय पक्ष का भी बराबर ध्यान रहा, लेकिन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रसाद को रंगमंच का विशेष व्यावहारिक ज्ञान नहीं था। इसलिये उनके न चाहने पर भी वे नाटक रंगमंचीय दोषों से युक्त रह गये। नाटकों का साहित्यिक और कलात्मक पक्ष तो निश्चय ही चरम सीमा पर पहुँच गया, लेकिन उनमें प्रायः अभिनय की कमजोरी रह गयी। रंगमंच सम्बन्धी अनेक दोष उनमें दिखाई देने लगे। उनके नाटक अनावश्यक रूप से लम्बे हो गये हैं। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु' आदि नाटकों की अवधि तो खेलने में पाँच-छह घंटे से कम नहीं होगी। दूसरे, नाटकों के कथानक बड़े जटिल हैं। एक ही नाटक में कई कथानक एकसाथ चलते हैं, जिनके कारण घटनाओं और पात्रों की भीड़-सी लग जाती है। अभिनय के समय इन सब कथानकों को निभाना तथा सभी घटनाओं और पात्रों का तालमेल बनाये रखना कठिन है। तीसरे, नाटकों में दृश्यों का दोषपूर्ण विभाजन हुआ है। प्रसाद ने इस बात का बहुत कम विचार रखा है और अपने नाटकों में कई दृश्य ऐसे रख दिये हैं जिनका रंगमंच पर सफल अभिनय या तो हो ही नहीं सकता अथवा बड़ी कठिनाई से हो सकता है। उनके नाटकों में चौथा दोष कथोपकथन और भाषा सम्बन्धी है। प्रायः संवादों की भाषा काव्यात्मक हो गयी है, जो अभिनय में दर्शकों पर अनुकूल प्रभाव छोड़ने में असमर्थ है। ऐसे काव्यात्मक स्थल अनेक स्थानों पर आ गये हैं। फिर, संवाद बहुत लम्बे हैं जो बोलते समय शक्तिहीन हो जाते हैं। एक पात्र बोलता है तो बोलता ही चला जाता है। जगह जगह पर स्वगत-कथन भी नाटकों की अभिनेयता में व्याघात डालते हैं। इन नाटकों में रंगमंच सम्बन्धी अन्तिम दोष यह है कि प्रायः सभी नाटकों में गीतों की भरमार है (विशेषतः 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कन्दगुप्त' में)। ये गीत सुन्दर, मधुर तथा भावपूर्ण होते हुए भी अभिनय के समय अनावश्यक और अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त दोष प्रसाद के प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटकों में आ गये हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' ही एकमात्र ऐसा नाटक है जो इन दोषों से मुक्त है और जो रंगमंच पर बहुत सफलता के साथ अभिनीत किया जा सकता है। जहाँ एक ओर कला और नाट्यविधान की दृष्टि से यह नाटक अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है, वहाँ अपने

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—रंगमंच, पृष्ठ १२०।

अभिनयात्मक रूप में भी यह पूर्णता को प्राप्त होता दिखायी देता है। रंगमंच की सुविधा और अनुकूलता का जितना विचार प्रसाद ने इस नाटक में रखा है, उतना किसी दूसरे में नहीं। तीन अंकों के इस नाटक में कार्य-व्यापार की शीघ्रता और एकता, दृश्य-विधान की सरलता तथा जिज्ञासा, कौतूहल की भावना आदि से अन्त तक बनी रहती है, जिसके कारण यह नाटक अभिनय की कसौटी पर खरा उतरता है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना में लेखक ने पूर्ववर्ती नाटकों की पद्धति नहीं अपनायी है। इसका कथानक ही ऐसा चुना गया है कि नाटक एकसाथ ऐतिहासिक और समस्या-नाटक बन गया है। इसमें इतिहास-प्रसिद्ध गुप्त वंश की वह घटना कथावस्तु के रूप में दी गई है जिसमें स्त्री का पुनर्विवाह कराया गया है। इस प्रकार विषय के दृष्टिकोण से इसमें वर्तमान नारी की समस्या का चित्रण हुआ है।

'ध्रुवस्वामिनी' की रचना पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्न नये वस्तु-संविधान और नये प्रयोग की शैली पर किये जाने के पीछे भी एक कारण है। वस्तुतः उस समय तक हिन्दी-नाटक में यथार्थवादी चेतना का आविर्भाव हो चुका था। यह चेतना पश्चिम के प्रभाव और सम्पर्क से हमारे यहाँ आयी। लेकिन, जहाँ पाश्चात्य साहित्य में रोमांटिक ड्रामा के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप यह यथार्थवादी चेतना धीरे धीरे क्रमिक रूप से कई अवस्थाओं से होकर विकसित हुई, वहाँ हिन्दी-नाटक में इब्सेन, बर्नार्ड शा आदि के प्रभाव से एकदम ही प्रबल हो उठी। अनेक नाटककार रोमांस और भावुकता के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप समस्या-नाटक लिखने की ओर झुक गये, जिनमें यथार्थवादी चेतना की प्रधानता थी। नाटकों में आदर्शवाद का स्थान यथार्थवाद और रोमांस लेने लगा तथा भावुकता का स्थान सामयिक सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्यायें लेने लगीं। इस नवीन प्रवृत्ति से प्रसाद भी अपरिचित नहीं थे। डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार, "विविध समालोचकों तथा अनेक मित्रों ने जब उन पर यह दोषारोपण किया कि आप नाटक-रचना में आदर्शवादिता का समर्थन इस सीमा तक करते हैं कि आज की वास्तविक समस्याओं की यथार्थवादिता से सर्वथा निरपेक्ष हो जाते हैं तब प्रसाद जी ने इस पर विचार किया और उन्होंने विवाह-समस्या को लेकर इस ऐतिहासिक नाटक की रचना की।"[१] तत्कालीन समाज में विधवा नारी नितान्त उपेक्षित हो रही थी। मोक्ष और विधवा-विवाह की जटिल समस्या खड़ी हो गयी थी। 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना करते समय प्रसाद ने पिछली आदर्शवादिता छोड़कर विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह की ज्वलन्त समस्याओं को ही ध्यान में रखा और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित एक समस्याप्रधान नाटक की रचना की। 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटकों से वस्तु-संविधान, उद्देश्य, कला-विधान, अभिनेयता सभी रूपों में भिन्न है। नाटक की ये विशेषतायें तत्कालीन नवीनतम नाट्य प्रवृत्तियों के प्रति प्रसाद की

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २५३।

जागरूकता और रुचि की ओर संकेत करती हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' में कथावस्तु का विस्तार अभिनेयता की दृष्टि से ही किया गया है। प्रसाद के अन्य नाटकों के कथानक जटिल हो गये हैं। कथासूत्र भी एक के स्थान पर अनेक हैं। किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' इस दोष से मुक्त है। इसका कथानक बहुत सरल है और एक ही कथासूत्र में ग्रथित है। रंगमंच पर इसे प्रस्तुत करते समय किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। सम्पूर्ण नाटक तीन अंकों में विभाजित है और प्रत्येक अंक में केवल एक दृश्य है। प्रत्येक अंक एवं दृश्य की घटनाएँ और कार्य-व्यापार एकस्थानीय ही हैं। एक तो कथा स्वयं ही इतनी प्रभावशाली है, फिर उसका निर्वाह इतनी कुशलता से किया गया है कि अनेक स्थलों पर मानो चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। नाटक में प्रथम अंक का वस्तु-विन्यास किसी भव्य प्रासाद की सुदृढ़ भूमिका की भाँति अत्यन्त उपादेय होता है। उसके ठीक उतर जाने पर अन्य अंक स्वयं ही ठीक हो जाते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रथम अंक मानो आगे घटनेवाली घटनाओं का मार्ग-निर्देश करता है। नाटक के प्रथम और अन्तिम दृश्यों को जितना रोचक और आकर्षक बनाया गया है, वह अभिनय की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है।

किसी नाटक की अभिनेयता के लिये उसमें संकलनत्रय का होना बहुत आवश्यक होता है। संकलनत्रय से आशय है—नाटक में समय, स्थान और कार्य की एकता। प्रसाद के बड़े बड़े नाटकों; यथा 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि; में घटना-बाहुल्य में फँसकर नाटक की एकता अस्तव्यस्त हो गयी है। इन नाटकों में ऐसी घटनायें और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नहीं, वरन् घातक सिद्ध हुए हैं। 'स्कन्दगुप्त' में धातुसेन, मातृगुप्त, पृथ्वीसेन, मुद्‌गल आदि पात्र और उनसे सम्बन्वित प्रसंग; 'चन्द्रगुप्त' में नाटक के बीच में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण आदि ऐसी घटनायें हैं जो कथावस्तु को बिल्कुल निर्जीव बना डालती हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आ पाया। इसका सारभूत प्रभाव पूर्णतः एकसार है। न कोई पात्र अनावश्यक रूप से आया है, न कोई घटना ही। सभी घटना-व्यापार प्रायः समीप के ही स्थान में घटित होते हैं। पूरे नाटक में केवल दो दृश्यबंध (सेट) पर्याप्त हैं : एक पर्वत-प्रदेश का (जो शिविर भी बनाया जा सकता है) और दूसरा दुर्ग, प्रांगण अथवा प्रकोष्ठ का। सारा कार्य-व्यापार इसी के भीतर हल्के-से परिवर्तन से दिखाया जा सकता है।

'ध्रुवस्वामिनी' के दृश्य-विधान में लेखक ने रंगमंच की सुविधा और अनुकूलता का बहुत विचार रखा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, थोड़ी सजावट और दो पर्दों से पूरे नाटक का अभिनय हो सकता है। हाँ, इस सजावट में देश-काल-स्थान के परिचय-निमित्त विशेष कुशलता अपेक्षित होगी। वैसे भी, रंगमंच अपने रंगकर्मियों की थोड़ी-सी कुशलता और समझदारी (रंगधर्मिता) की अपेक्षा रखता ही है। प्रस्तुत नाटक में तो प्रत्येक दृश्य स्वयं ही स्पष्ट और अंकन में सरल है। यह सरलता देश-काल-पात्र के ज्ञान में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देती। नाटक के दृश्य-विधान के

सम्बन्ध में डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने लिखा है : "इस नाटक में केवल एक यवनिका और दो पटों से सारा काम चल सकता है। यदि धन और साधन अनुकूल हों तो तीनों अंकों के बीच में प्रसंगानुसार दोहरे पटों (ट्रान्सफ़र सीन) का प्रबन्ध करने से सौन्दर्य और आकर्षण बढ़ाया जा सकता है।"[1]

अभिनय में सहायता देने के उद्देश्य से इस नाटक में जगह जगह रंग-निर्देश (या दृश्य-संकेत) दिये गए हैं। यथा, प्रथम अंक के प्रारम्भ में ध्रुवस्वामिनी की स्वगतोक्ति के बीच बीच में दिये गए रंग-निर्देश द्रष्टव्य हैं : 'सामने पर्वत की ओर देख कर'......'साथवाली खड्गधारिणी की ओर देखकर'......'वह (खड्गधारिणी) दाँत दिखाकर विनय प्रकट करती हुई कुछ और आगे बढ़ने का संकेत करती है।'...... 'खड्गधारिणी विवशता और भय का अभिनय करती हुई आगे बढ़ने का संकेत करती है।' इसी प्रकार यह अंश भी द्रष्टव्य है : "ध्रुवस्वामिनी का उदास भाव से धीरे धीरे प्रवेश। पीछे एक परिचारिका पान का डिब्बा और दूसरी चमर लिए आती है। ध्रुवस्वामिनी एक मंच पर बैठकर अधरों पर उँगली रखकर कुछ सोचने लगती है और चमरधारिणी चमर चलाने लगती है।"[2] इतने विस्तृत रंग-संकेत अभिनेयता को दृष्टि में रखकर ही दिए गए हैं और वास्तव में इनसे अभिनेता को अभिनय में सहायता मिलती है। कला की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी प्रसाद ने यह नाटक मूलतः अभिनय के लिए लिखा है। नाटक के रंग-संकेत और संवादों के बीच लायी गई नाटकीयता की स्थिति इस बात का प्रमाण है। एक उदाहरण प्रस्तुत है : "शिखर-स्वामी : क्षमा हो महाराज। दूत तो अवध्य होता ही है, इसलिए उसका संदेश सुनना ही पड़ा। वह कहता था कि शकराज से महादेवी ध्रुवस्वामिनी का (रुककर ध्रुवस्वामिनी की ओर देखने लगता है। ध्रुवस्वामिनी सिर हिलाकर कहने की आज्ञा देती है) विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो चुका था। बीच में ही आर्य समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा में महादेवी के पिता जी ने उन्हें गुप्तकुल में भेज दिया।"[3] स्थान स्थान पर दिए गए ये स्वाभाविक रंग-निर्देश और मंच-संकेत इस नाटक की अभिनेयता की पुष्टि करते हैं। द्वितीय अंक के प्रारम्भ में दृश्यबन्ध के बारे में जो संकेत दिए गए हैं, वे स्वाभाविक तो हैं ही, साथ ही मंच की सरलता की ओर भी इंगित करते हैं। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में, "वेश-भूषा, स्थिति-परिचय, रंगमंचीय सजावट आदि के विषय में विस्तृत निर्देश देने की वर्तमान परिपाटी इसी नाटक में प्रवेश पा सकी है। इससे पूर्व के नाटकों में लेखक इनके विषय में प्रायः चुप ही दिखाई देता है।"[4]

भाषा की दृष्टि से भी यह नाटक प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्न और अभिनेय है। इसकी भाषा परिमार्जित होते हुए भी बोलचाल की भाषा के अधिक

---

१. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ १९८।

२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २१, २४।

४. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ १९८।

निकट है। भाषा से तात्पर्य है, नाटक के कथोपकथनों की भाषा। यह बताना आवश्यक होगा कि कथोपकथन या संवाद का नाटक के मूल तत्त्वों में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाटककार को अभीष्ट सिद्धि तक पहुँचाने का एकमात्र साधन संवाद ही है। पात्रों के चरित्र-विकास, कथा-विन्यास और विभिन्न रसों की निष्पत्ति का सर्वोत्तम साधन संवाद-योजना को ही समझना चाहिए। संवाद की उपादेयता पर नाटक की अधिकांश सफलता अवलम्बित होती है। प्रसाद एक महान् कवि भी थे, अतः उनके नाटकों के संवाद कलात्मक एवं कवित्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। इस काव्यमयी भाषा-शैली के कारण संवाद साहित्यिक एवं कलापूर्ण तो अवश्य हो गये, किन्तु जनसाधारण न उन्हें बोल सकते हैं, न समझ सकते हैं। इस प्रकार अभिनय की दृष्टि से वे दुरूह हैं। परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों में यह दोष नहीं है। जैसा कि डॉ० दशरथ ओझा का कथन है : " 'राज्यश्री' और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद की धारणा सम्भवतः इनकी अभिनेयता की ओर सदा बनी रही। प्रमाण यह है कि इन दोनों नाटकों की संवाद-योजना में शब्दों का चयन, भाषा का प्रभाव, भाषण का लाघव जनता की योग्यता और नाटक के व्यापार पर आश्रित है।"[१] 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटकों में क्लिष्ट शब्द, लम्बे लम्बे वाक्य और लम्बे लम्बे संवाद उनकी अभिनेयता में बहुत बड़ी बाधा बन जाते हैं। इसके विपरीत 'ध्रुवस्वामिनी' के कथोपकथन सीधी-सरल भाषा में लिखे गए हैं। संवाद छोटे, चुस्त और सटीक हैं। प्रथम अंक में एक स्थान पर जब चन्द्रगुप्त हिजड़े का कान पकड़कर उसे बाहर करने लगता है, तो ध्रुवस्वामिनी कहती है : "उसे छोड़ दो, कुमार। यहाँ पर एक वही नपुंसक तो नहीं है। बहुत-से लोगों में से किसको किसको निकालोगे ?"[२] यह छोटी-सी उक्ति दर्शक के सामने रामगुप्त के अधीन पूरे साम्राज्य की वास्तविकता का चित्र खींचकर रख देती है।

'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों में काव्यात्मकता के स्थान पर व्यावहारिकता का प्रयोग अधिक हुआ है। नाटककार ने संवादों में सफलतापूर्वक रूक्षता और नीरसता से पीछा छुड़ाया है। प्रथम एवं द्वितीय अंकों के आरंभ में ध्रुवस्वामिनी एवं कोमा के स्वगतभाषणों को छोड़कर और कोई स्थल विस्तार-युक्त नहीं है। अंकों के आरम्भ में होने के कारण इनका विस्तार भी अधिक नहीं खलता। इसके अतिरिक्त इन स्वगतोक्तियों में उद्वेग होने के कारण आकर्षण बना रहता है। ध्रुवस्वामिनी का पहला स्वगतभाषण उस संघर्ष की ओर संकेत करता है, जो नाटक में उद्दण्डता और विनम्रता के बीच दिखाया गया है। ऐसे स्थलों पर वातावरण की गम्भीरता के अनुसार संवाद की भाषा-शैली गम्भीर दिखाई दे सकती है, किन्तु इनके अतिरिक्त सर्वत्र संवाद सरल और सूक्ष्म ही मिलेंगे। ये संवाद वेगयुक्त और सशक्त हैं। नाटककार इनके द्वारा अपनी बात कहने में पूर्णतया सफल हुआ है।

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ २६७।

२. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३२।

इस नाटक के संवादों की यही सबसे बड़ी विशेषता है। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त और मन्दाकिनी उन पात्रों में से हैं जिनके संवादों में प्रधानतः संवेग दिखाई पड़ता है। इसका कारण स्पष्ट है। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को ही अधिक उद्योग करना पड़ा है और अपने अधिकारों के लिए उच्च स्वर से चिल्लाना पड़ा है। सबसे अधिक अन्याय भी इन्हीं पात्रों के साथ हुआ है और सारा दायित्व भी इन्हीं को सहन करना पड़ा है। अतएव इनके स्वर में तीखापन और आवेश होना स्वाभाविक है। इनके वेगपूर्ण संवादों के कारण नाटक में आदि से अन्त तक रंगमंचीय अनुकूलता उत्पन्न हो गई है। संवादों की चुस्ती और उपयुक्त प्रभाव का एक उदाहरण तृतीय अंक के उस स्थल में देखा जा सकता है, जहाँ ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के अधिकार को अस्वीकार करती हुई उसकी प्रताड़ना करती है और उसकी सहधर्मिणी बनी रहने से इन्कार कर देती है।[1]

'ध्रुवस्वामिनी' के गीत और नृत्य भी स्वाभाविक और उपयुक्त स्थलों पर हैं। प्रसाद के अन्य नाटकों की तरह इन गीतों से अभिनयात्मकता में बाधा नहीं पहुँचती। दूसरे, इस नाटक में गीत भी अधिक नहीं हैं। प्रथम अंक में मन्दाकिनी का गीत 'यह कसक अरे आँसू सह जा' स्थिति के अनुसार बहुत स्वाभाविक बन पड़ा है। इसी प्रकार शकराज के दरबार में नर्तकियों का गीत-नृत्य भी वातावरण के अनुकूल है और स्थितिविशेष को स्वाभाविक बनाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' के गीतों की भाषा भी क्लिष्ट नहीं है, वरन् सीधे-सरल शब्दों में ये गीत पात्रविशेष की मनःस्थिति अथवा वातावरण का चित्रण करते हैं। साथ ही ये गीत हर तरह से गेय हैं।

उपर्युक्त गुणों के कारण 'ध्रुवस्वामिनी' की अभिनेयता स्पष्ट हो जाती है। यों तो कोई भी कृति सर्वथा दोष-मुक्त नहीं होती, कहीं न कहीं उसमें कोई कमी रह जाती है। रंगमंच की दृष्टि से छोटी-मोटी कमियाँ इस नाटक में भी हैं। उदाहरण-स्वरूप प्रथम अंक में मन्दाकिनी के गीत को लिया जा सकता है।[2] यह गीत अनावश्यक रूप से लम्बा है और उपयुक्त स्थल पर भी नहीं है। इससे अभिनय में नीरसता आने लगती है और दर्शक ऊबने लगता है। इसी प्रकार द्वितीय अंक के आरम्भ में कोमा का लम्बा स्वगतकथन कोई विशेष अर्थ नहीं रखता और अभिनय की गति को धीमा कर देता है। नाटक में एक-दो स्थलों पर संवादों की भाषा किंचित् काव्यात्मक हो गई है और अभिनय में उसका समुचित प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु ये दोष विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और रंगमंच पर इनसे बचा जा सकता है। गीत की केवल एक-दो कड़ियाँ गाकर संकेत दिया जा सकता है। संवाद भी काटकर छोटे और गठे हुए बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार भाषा की अभिव्यंजना व्यावहारिक की जा सकती है।

---

१. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ५९।

२. "पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले।"—ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३४।

अभिनय सम्बन्धी विशेषताओं की तुलना में ये दोष नगण्य हैं।

यों तो प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि दीर्घाकार नाटकों को भी काट-छाँटकर, अवधि (वस्तु-विस्तार) कम करके और दृश्य-विभाजन के क्रम को रंग-मंच की आवश्यकता और सुविधा के अनुकूल करके सफलता के साथ अभिनीत किया जा सकता है, किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' को तो मूलतः लिखा ही रंगमंच के लिए गया है। वस्तु-विधान, कथोपकथन, दृश्यवन्ध और दृश्य-विभाजन सभी दृष्टियों से यह नाटक अभिनेय है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। जहाँ इस नाटक में प्रसाद की कला सर्वोच्च शिखर पर पहुँची है वहाँ अभिनेयता की दृष्टि से भी इसका स्थान सुरक्षित रहेगा।



संवाद-सौष्ठव

श्री रमेशकुमार खट्टर

संवाद नाटक का प्रमुख तत्त्व है। यही वह साधन है जिसके द्वारा नाटककार कथा-विन्यास, चरित्र-चित्रण और कथ्य-प्रस्तुति करता है। इन प्रयोजनों की सिद्धि और नाटकीय विधा की दृष्टि से उपयुक्तता—ये ही वे निकष हैं जिनके आधार पर किसी भी नाटक के संवादों की परीक्षा की जा सकती है। नाटकीय संवाद पात्रों की परिस्थिति और भावनाओं के अनुकूल तथा यथासंभव संक्षिप्त, सजीव, स्वाभाविक और भाषा की दृष्टि से सरल होने चाहिएँ। शास्त्रीय दृष्टि से नाटक के संवाद तीन[1] प्रकार के होते हैं—१. सर्वश्राव्य, जो मंच पर उपस्थित सभी पात्रों के लिए श्रवणीय होते हैं, २. नियतश्राव्य, जिनका श्रवण मंच पर उपस्थित पात्रों में से कुछ ही पात्र करते हैं, तथा ३. अश्राव्य अर्थात् पात्रों के स्वगतकथन, जो उनके विचार ही होते हैं। आधुनिक नाटक में सर्वश्राव्य तथा नियतश्राव्य की प्रवृत्ति को अस्वाभाविक मानकर त्याग दिया गया है।

कहा जा चुका है कि संवादों द्वारा नाटककार नाटकीय पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में कथोपकथनों द्वारा पात्रों की आकृति-प्रकृति का यथोचित विश्लेषण किया गया है। संवादों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' के अधिकांश पात्र भावुक प्रकृति के हैं। इस रचना में अनेक स्थलों पर भावावेश-प्रेरित संवाद मिलते हैं।[2] इनमें अनेक पात्रों के संकल्प-विकल्प का चित्रण करके उनके मन के अंतर्द्वंद्व को उभारा गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' के कथोपकथनों में पात्रों के शील का निरूपण प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष दोनों रीतियों से हुआ है। कहीं तो वार्त्तालाप में संलग्न पात्र स्वयं ही अपनी उक्तियों से अपने चारित्रिक वैशिष्ट्य की व्यंजना करते हैं[3] और कहीं दो भिन्न पात्रों के पारस्परिक सम्भाषण में किसी तीसरे पात्र के अंतर्व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है।[4] उत्तर-प्रत्युत्तर में हाज़िर-जवाबी का समावेश करके प्रसाद ने जहाँ एक ओर नाटक के कार्य-व्यापार को गति दी है, वहाँ दूसरी ओर रोचकता के आधान द्वारा संवादों को रमणीय बनाया है। यथा :

"**रामगुप्त** : (प्रसन्नता से) वाह ! क्या कहा तुमने ! तभी तो लोग तुम्हें नीतिशास्त्र का बृहस्पति समझते हैं !

---

१. कतिपय विद्वान् 'नभभाषित' नामक एक चौथा भेद भी मानते हैं।

२. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ १४, १६, २१, २८-२६, ३३-३४, ३७, ४५, ५३, ५६।

३-४. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ १६, १८, २४, ३०, ३६; १५, १८, ३२, ३६।

संधि का कोई प्रस्ताव नहीं सुनना चाहती[१], ध्रुवस्वामिनी की निर्भीकता को प्रमाणित करता है। ध्रुवस्वामिनी के संवादों के सूक्ष्म परिशीलन से यह सहज ज्ञात हो जाता है कि वह भावुक प्रकृति की है।[२] भावुकता के कारण वह कभी तो उद्विग्न[३] हो उठती है और कभी उसमें दीनता[४] और करुणा[५] के भाव उमड़ पड़ते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' में नायिका के तेज एवं क्रोध को व्यंजित करनेवाले संवाद सर्वाधिक हैं।[६] आत्मसम्मान और तेज से प्रदीप्त उसका चरित्र 'किरातार्जुनीयम्' की द्रौपदी का स्मरण दिला देता है।[७] उसके संवादों में नारी का विद्रोह, रामगुप्त के प्रति उपेक्षा[८] और शुष्क शिष्टाचार[९] तथा चन्द्रगुप्त के प्रति प्रगाढ़ अनुराग[१०] और प्रबल स्नेहाकर्षण[११] के भाव व्यक्त हुए हैं।

चन्द्रगुप्त का साहस, शौर्य और स्थैर्य केवल उसके द्वारा कही गयी उक्तियों[१२] में ही व्यक्त नहीं हुआ, वरन् ध्रुवस्वामिनी, मंदाकिनी प्रभृति ने भी अपनी उक्तियों में उसके तेज की प्रशंसा की है।[१३] 'ध्रुवस्वामिनी' में चन्द्रगुप्त से सम्बद्ध संवाद प्रायः भावुकतापूर्ण हैं। अतः उनमें काव्यात्मकता का भी समावेश हो गया है। रामगुप्त के कथोपकथनों में उसकी कामांधता, विलासिता, निर्बलता और उन्मत्तता लक्षित होती है।[१४] उसकी उक्तियों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उसमें केवल नैतिक साहस की ही कमी नहीं है, उसके व्यक्तित्व में कुंठाओं का भी निवास है,[१५] जिसके फलस्वरूप वह ध्रुवस्वामिनी से दुर्व्यवहार करता है।[१६] ईर्ष्या तथा प्रतिकार के साथ साथ उसमें कायरताजन्य भय भी है—यह उसकी प्रथम अंक की उक्तियों से ही स्पष्ट है।[१७] चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, मंदाकिनी, यहाँ तक कि पुरोहित ने भी उसकी दुर्वृत्तियों की निंदा की है।[१८] इसके अतिरिक्त, संवादों में शिखर-स्वामी की चाटुकारिता तथा अवसरवादिता, पुरोहित की स्पष्टवादिता तथा धर्मपरायणता, मंदाकिनी और कोमा की भावुकता, कोमा की शकराज के प्रति अनुरक्ति और कठोरता, शकराज की विलासिता

१-२. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २७; १३, २९, ३३।
३-४-५. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ५३, २८, २९।
६. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २४, २६, २७, २९, ५५, ६४।
७. देखिए 'किरातार्जुनीयम्', १।२८।
८-९-१०-११. देखिये 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ १७, २३, १५-१६, ३४।
१२. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ३०, ५०, ६२।
१३. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २०, ३०।
१४. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ १९, २४, ३०, ३४।
१५. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २०, २५।
१६-१७. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २४-२५, ३१-३२।
१८. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ३१, २८, ३०, ६०, ६३।

तथा वर्वरता तथा मिहिरदेव की गंभीरता का परिचय मिलता है।[१]

प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों में पात्रों के चरित्र का अंकन करते हुए मनोवैज्ञानिक औचित्य का पूर्ण निर्वाह किया है। संवादों में पात्रों के आंतरिक संघर्ष को अभिव्यक्त करते हुए विरोधी भावों के घात-प्रतिघात का चित्रण भी सुन्दर ढंग से किया गया है। कथावस्तु के ऐतिहासिक होते हुए भी नाटक की अन्तःप्रेरणा आद्योपांत काम-प्रवृत्ति से संबद्ध है। रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के कथोपकथनों में जो उत्तेजना है, उसका उद्गम मानसिक नियतिवाद है जो इनके अज्ञात मन में प्रविष्ट हो गया है। तृतीय अंक में आये ध्रुवस्वामिनी-पुरोहित-संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह (ध्रुवस्वामिनी) अनचाहे रामगुप्त के साथ बाँध दी जाती है,[२] यही कारण है कि स्वगतकथनों में उसके अचेतन मन की अतृप्त दमित कामेच्छाओं की अभिव्यक्ति हुई है।[३] रामगुप्त के तथा पुरोहित के संवादों का यदि पृथक् पृथक् परिशीलन किया जाए तो ज्ञात होगा कि रामगुप्त शारीरिक दृष्टि से क्लीव नहीं है। पुरोहित की उक्ति, "राजनीतिक दस्यु ! तुम शास्त्रार्थ न करो। क्लीव ! श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीव किसलिए कहा था ? जिसे अपनी स्त्री दूसरे को अंकगामिनी बनाने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या है ?"[४]—इसका समर्थन करती है। रामगुप्त के मन में ध्रुवस्वामिनी के भोग की तीव्र उत्कंठा है।[५] किन्तु, ध्रुवस्वामिनी की उदासीनता उसके मन पर गहरा प्रभाव डालती है। "उसमें रतिशक्तिहीनता के लक्षण अंकुरित हो उठते हैं। उसमें आत्मभर्त्सना के कारण हीनता का सन्निवेश हो जाता है।"[६] नाटककार ने हीनत्व-कुंठा के इस स्वर को उसकी अन्तर्द्वंद्वमयी उक्तियों में व्यक्त किया है :

(अ) "रामगुप्त : युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है, देखती नहीं, जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझसे स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज !"[७]

(आ) "रामगुप्त :······जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसमें एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा। वही तो······नहीं, जो चन्द्रगुप्त

---

१. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ १६, ६४; ६३; २०, ३६-३७; ४२; ४०, ४२; ४४।

२-३. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', (अ) पृष्ठ ५२-५३, ५३-५४, (आ) पृष्ठ ३३।

४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ६३-६४।

५. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ १८, २८।

६. आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० गणेशदत्त गौड़, पृष्ठ १८५।

७. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १८।

से प्रेम करेगी वह न जाने कब चोट कर बैठे ? भीतर भीतर न जाने कितने कुचक्र घूमने लगेंगे।"[१]

रामगुप्त के उक्त कथन में मानसिक नियतिवाद की प्रवंचना की अभिव्यक्ति हुई है। प्रथम अंक के रामगुप्त-ध्रुवस्वामिनी-संभाषण से स्पष्ट हो जाता है कि वे दोनों ही एक-दूसरे को नहीं चाहते हैं।[२] चन्द्रगुप्त से प्रेम करते पाकर रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी को शकराज के विलास के लिए समर्पित कर देना उसकी प्रतिशोध-ग्रंथि का अन्त:प्रयाण है, जिसकी अभिव्यक्ति 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रथम अंक में रामगुप्त-शिखर-स्वामी-संवाद में हुई है।[3] वस्तुत: 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों में अभिव्यक्त मानसिक और चारित्रिक संघर्ष मनोवैज्ञानिकता से संपुष्ट है।

संवादों की संघटना तथा उनके शिल्प का विधान करते हुए भी प्रसाद ने अपनी मनोविश्लेषण-शक्ति का परिचय दिया है। संवादों के कलागत वैशिष्ट्य की मीमांसा तो हम निबन्ध के उत्तरार्द्ध में करेंगे, यहाँ केवल यह उल्लेखनीय है कि कथोपकथनों में भावावेश को व्यंजित करने के लिए नाटककार ने शब्दविशेष और शब्द-समूह की आवृत्ति भी की है। अतिशय भावुकता का अभिव्यंजन (अर्थगर्भ मौन) '......' से हुआ है। अत: संवाद अपना अभीप्सित प्रभाव डालने में समर्थ सिद्ध हुए हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' के कथानक में और पाश्चात्य रोमांस-कथाओं में निकट का साम्य है—'Only the brave deserve the fair'—का सिद्धान्त इसकी कथा पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है; अत: इसके संवादों में भी रोमांचक तत्त्वों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। रोमांस के प्रमुख तत्त्व हैं—प्रेम, शौर्य, त्याग तथा अतिमानवीयता। इसमें प्रेमी और प्रेम-पात्र के मध्य समय, स्थान आदि की दूरी का भी निदर्शन किया जाता है। विवेच्य नाटक का वस्तु-विधान प्रेम पर आश्रित है; ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के वचनों में प्रगाढ़ प्रेम का आकर्षण व्यक्त है। प्रसाद ने दोनों के पारस्परिक स्नेहानुराग को उदात्त एवं भव्य रूप में अंकित किया है। दोनों के हृदयों में एक-दूसरे को प्राप्त करने की उत्कट कामना है—प्रथम अंक में आये ध्रुवस्वामिनी-खड्ग-धारिणी के कथोपकथन तथा तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त के स्वगतकथन को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया जा सकता है :

(अ) 'ध्रुवस्वामिनी : कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है।"[४]

(आ) "चन्द्रगुप्त' : हाँ, वह मेरी है, मैंने उसे आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है। मेरे हृदय के गहन अन्तस्तल से निकली हुई यह मूक स्वीकृति आज बोल रही है।"[५]

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १८।

२-३. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २५, २०।

४-५. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १९, ५७।

कोमा के हृदय में भी शकराज के प्रति अत्यन्त रोमांचक प्रेम है। शकराज की अवहेलना उसके प्रेम की वेगवती धारा को अवरुद्ध नहीं कर पाई। द्वितीय अंक के प्रारम्भिक स्वगत में उसके रोमांस की प्रथम बार अभिव्यक्ति होती है। शकराज के प्रति उसके प्रेम में उन्मत्तता न होकर सात्त्विक शीतलता है।[1] रोमांचक प्रेम का अनिवार्य धर्म है उसका आवेश (excitement) अथवा वेग। 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों में अनेक स्थलों पर ध्रुवस्वामिनी की भाँति कोमा के प्रेम का आवेग भी अत्यन्त प्रखर रूप में अंकित हुआ है। इस सन्दर्भ में तृतीय अंक के ध्रुवस्वामिनी-कोमा-संभाषण से निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :

"**कोमा** : रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी ? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय, हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है। मुझे शकराज का शव चाहिए।"[2]

'ध्रुवस्वामिनी' के कथोपकथनों में प्रेम के साथ साथ शौर्य (chivalry) और साहस की भी मार्मिक व्यंजना हुई है। चन्द्रगुप्त की उक्तियाँ साहस एवं ओज से परिपूर्ण हैं। प्रसाद ने रामगुप्त की उक्तियों में कायरता और क्लीवता व्यंजित करके उसके विरोध में चन्द्रगुप्त के पराक्रम को और भी अधिक उभार दिया है। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त के साहस पर ही मुग्ध है—खड्गधारिणी से हुए वार्त्तालाप में वह उसके शौर्य को 'निरभ्र प्राची' के 'बाल अरुण' से उपमित करती है। संवादों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि शकराज और कोमा के प्रेम में भी रोमानी साहसिकता है। शकराज का पौरुष कोमा के प्रेम को आधार प्रदान किये हुए है। तृतीय अंक में उसका शकराज से यह कथन, "मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्त्वमयी पुरुष-मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी"[3], इस स्थापना को पुष्ट करता है। संवादों में ध्वनित प्रेम और शौर्य की भावनाओं में त्याग का सम्मिश्रण इस नाटक को पूर्णतया ऐतिहासिक रोमांस बना देता है। ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त के संदर्भ में त्याग की यह भावना उभयपक्षीय है। प्रसाद ने दोनों के कथोपकथनों में प्राण-समर्पण का आवेश चित्रित किया है। चन्द्रगुप्त के साथ शक-शिविर में प्रविष्ट होने पर ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त के त्याग को लक्ष्य करके ही कहता है : "अपनी कामना की वस्तु न पाकर यह आत्महत्या-जैसा प्रसंग तो नहीं है।"[4] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शकराज की ध्रुवस्वामिनी को प्राप्त करने की लालसा तथा चन्द्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी के प्रेम में सामाजिक मर्यादाओं की बाधा उनके प्रेम-मार्ग में

१. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ३६।
२-३-४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५५, ४७, ४८।

व्याघात उपस्थित करती है। प्रेम में बाधाओं का आगमन एवं नायक के साहस से उनका निवारण पाश्चात्य रोमांस-कथाओं का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। यहाँ भी चन्द्रगुप्त ने शकराज का वध करके अपने विक्रम से राज्य एवं ध्रुवस्वामिनी का अर्जन किया है—नाटक के अन्त में चन्द्रगुप्त और शिखर-स्वामी का संभाषण इस ओर इंगित करता है।[1] अतिमानवीयता, जो रोमांस की प्रमुख विशेषता है, अवश्य ही संवादों में नहीं आ पायी, किन्तु कार्य-व्यापारों में उसकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता—तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त को लौह शृंखलाएँ तोड़ते दिखाया गया है।[2] इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी के संवादों में सर्वत्र रोमांस की अन्तःसलिला प्रवाहित है। इस संदर्भ में डॉ० दशरथ सिंह के विचार अवलोकनीय हैं : "रोमांस कथाओं का नायक शौर्य-सम्पन्न, आकर्षणयुक्त तथा आत्मोत्सर्ग के लिए तत्पर होता था। विशेषकर स्त्री जाति के प्रति होनेवाले अन्याय को रोकने के लिए वह कुछ भी उठा नहीं रखता था। इस उदात्त उद्देश्य में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और सद्यःउत्पन्न प्रेम का अंश भी छिपा रहता था। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का जो सम्बन्ध निरूपित हुआ है, वह इसी भाँति रोमांटिक परम्परा के अनुकूल है।"[3]

ऊपर कहा जा चुका है कि सफल नाटक के संवाद कथा के पुरस्सरण में सहायक होने चाहिएँ। जहाँ नाटककार कथा को छोड़कर निरर्थक विस्तार करने लगता है वहाँ अस्वाभाविकता का समावेश हो जाने से रस में व्याघात पड़ जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद प्रायः कथा को आगे बढ़ाते हुए चले हैं। आलोच्य रचना में विषय से विच्युत संवाद बहुत कम स्थलों पर मिलते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का मत उल्लेखनीय है : "(ध्रुवस्वामिनी के संवादों में) निरर्थक विस्तार भी नहीं होने पाया और वस्तु-निवेदन में भी सीधापन है। जहाँ कहीं तर्क-वितर्क के प्रसंग भी आ गये हैं, वहाँ व्यवहार-संगत वाद-विवाद ही चला है, उसमें विषय से विच्युत संवाद का अस्तित्व नहीं ज्ञात होता, जैसा कि 'अजातशत्रु' में शक्तिमती और दीर्घकरायण का अथवा 'स्कंदगुप्त' में बौद्धों एवं ब्राह्मणों का हो गया है।"[4] शर्मा जी के स्वर में स्वर मिलाते हुए प्रसाद-साहित्य के सभी समीक्षकों ने 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों की विषय-संबद्धता को स्वीकार किया है। नाटक में घटनाएँ पात्रों के चरित्र की अभिव्यक्ति करती हैं और पात्रों का व्यक्तित्व घटनाओं को प्रभावित कर उन्हें अपेक्षित मोड़ देता है। इसलिए घटनाएँ और पात्र सर्वथा संपृक्त हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों ने भी जहाँ एक ओर पात्रों के चरित्र का उद्घाटन किया है, वहाँ कथा को गति प्रदान की है। अनेक स्थलों पर 'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद परिस्थितिविशेष के प्रति पात्र की प्रतिक्रिया व्यक्त कर भावी घटना का पूर्वानुमान

१-२. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ६१, ६०।

३. हिन्दी के स्वच्छंदतावादी नाटक, पृष्ठ ८०।

४. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ १९६-१९७।

कराते हैं। उदाहरणार्थ इस कथन में—"ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं? (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी।"[1]—जहाँ एक ओर ध्रुवस्वामिनी का तेज-दीप्त व्यक्तित्व प्रकाशित होता है वहाँ पाठक यह अनुमान भी लगा सकता है कि वह रामगुप्त के प्रभाव को कदापि नहीं मानेगी। मंदाकिनी ने मंच पर आते ही जो स्वगतकथन प्रस्तुत किया है[2], उससे स्पष्ट हो जाता है कि यह वीर रमणी ध्रुवस्वामिनी की सहायिका बनी रहेगी। इसी प्रकार कोमा की पहली उक्ति[3] ही शकराज के प्रति उसके हृदय के सात्विक अनुराग का परिचय देती है और वास्तव में उसी के प्रेम के कारण उसका वध भी हो जाता है। वैसे भी छोटे छोटे संवादों में वस्तु को बाँधकर प्रसाद ने कथा को विशिष्ट गति प्रदान की है। इस प्रकार कथा के विकास में संवादों की उपादेयता असंदिग्ध है।

'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद देशकाल, परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल हैं। नाटक का समस्त वस्तु-विधान राजकीय वातावरण में हुआ है, अतः संवादों में भी राजघरानों की-सी शिष्टता है। रामगुप्त मदोन्मत्त होकर भी ध्रुवस्वामिनी को 'महादेवी' के अतिरिक्त और किसी नाम से संबोधित नहीं करता: खड्गधारिणी, प्रतिहारी, शिखर-स्वामी, कोमा आदि सभी पात्रों के वचनों में राजकीय मर्यादा का निर्वाह किया गया है। द्वितीय अंक के प्रारम्भ में शकराज-कोमा के संवाद में संयतता का यह भाव स्पष्ट है। विवेच्य रचना में केवल एक स्थान पर ध्रुवस्वामिनी के मुख से प्रसाद ने रामगुप्त के लिए 'मद्यप', 'क्लीव' आदि अवांछनीय शब्दों का प्रयोग कराया है.[4] किन्तु जिस परिस्थिति में इन शब्दों का प्रयोग कराया गया है, उसमें ये सर्वथा संगत हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों की एक अन्य प्रमुख विशेषता है—भावुकता, जिसके कारण संवादों में सर्वत्र स्निग्धता और सरसता आ गयी है। इससे वे यथार्थवादी नाटककारों की गद्यात्मक कर्कशता (prosaic crudeness) से बच गये हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों में शृंगार और वीर दोनों भावनाओं का आवेग है। प्रायः नाटक के कथोपकथनों में सामान्य वार्त्ता की अपेक्षा अधिक साहित्यिकता रहती है, अतः उन्हें स्वाभाविक बनाने के लिए संवेग का समावेश अनिवार्य हो जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' के पात्रों ने भी अनेक स्थलों पर इस बौद्धिक धरातल से उतरकर हृदय की भाषा का व्यवहार किया है। इससे प्रेक्षकों के साथ उनका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हुआ है। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त और मंदाकिनी के संवादों में सबसे अधिक भावावेग है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा: "कुमार! यह मृत्यु और निर्वासन का सुख, तुम अकेले ही लोगे, ऐसा नहीं हो सकता। राजा की इच्छा क्या है, यह जानते हो? मुझसे और तुमसे एकसाथ ही छुटकारा। तो फिर वही क्यों न हो? हम दोनों ही चलेंगे। मृत्यु

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ २८।

२-३-४. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २०, ३६-३७, २८।

के गह्वर में प्रवेश करने के समय में भी एक विनोद, प्रलय का परिहास, देख सकूंगी। मेरी सहचरी, तुम्हारा वह ध्रुवस्वामिनी का वेश, ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का ?"[1]

'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों में केवल हृदय का द्रवीभाव ही नहीं, रक्त की उष्णता और प्राणों का ओज भी है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी अपने चरित्र की दृढ़ता और तेजस्विता के कारण अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए तीव्र स्वर में बोलते हैं। इसलिए उनके संवादों में सशक्तता आ गयी है। पात्रों के चरित्र के ओज और संवेग के मिश्रण से ही 'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद प्राणवंत बने हैं। करुणामिश्रित राग से यदि उनमें सजीवता आयी है तो पात्रों के तेज ने उन्हें गत्वरता प्रदान की है। यही कारण है कि लंबे होने पर भी प्राय: हम इन संवादों को पढ़कर ऊबते नहीं। उक्त कथन से यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि 'ध्रुवस्वामिनी' के संक्षिप्त संवादों में सशक्तता अथवा प्राणवत्ता नहीं है। प्रथम अंक में रामगुप्त-ध्रुवस्वामिनी-संभाषण[2] में ये दोनों गुण मिलते हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' के कथोपकथनों में व्यंग्य और चुभनेवाली उक्तियाँ अनेक स्थलों पर आयी हैं। नाटक के गंभीर वातावरण में प्रमाता के हृदय को उत्फुल्लता प्रदान कर इन्होंने रचना की प्रभविष्णुता में अभिवृद्धि की है। पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों के संभाषणों में चुभनेवाली उक्तियाँ अधिक हैं और यह स्वाभाविक भी है—अत्याचार से पीड़ित भारतीय नारी के पास यही एक अस्त्र रहा है। पुरुष पात्रों के संवादों में भी इनका सर्वथा अभाव नहीं है। इस सम्बन्ध में चन्द्रगुप्त की उक्ति, "तब आओ, हम लोग स्त्री बन जाएँ और बैठकर रोयें"[3] उद्धरणीय है।

'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद प्राय: पात्रों की शिक्षा-दीक्षा और संस्कारों के अनुरूप हैं। पात्रोपयुक्तता से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि इस रचना में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से भिन्न भिन्न प्रकार की भाषाएँ बुलवायी गयी हैं। संस्कृत-नाटकों में जैसे पुरुष पात्र और स्त्री पात्र अपनी विशिष्ट भाषा में बोलते हैं, कुछ उसी प्रकार का क्रम प्रसाद ने 'प्रायश्चित्त' में तो अपनाया है, किन्तु परवर्ती नाटकों के संवादों में उन्होंने खड़ीबोली का ही प्रयोग किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' उनका अंतिम नाटक है। इसमें कथोपकथनों में एक ही भाषा के विविध रूपों का प्रयोग करके पात्रानुकूलता का विधान किया गया है। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त आदि इस रचना के सुशिक्षित पात्र हैं, अत: उनकी उक्तियों में साहित्यिकता और कवित्व का समावेश अधिक है। इसके विपरीत शकराज के सामंतों, प्रतिहारी, कुबड़े, बौने, हिजड़े आदि पात्रों की भाषा में व्यावहारिकता अधिक है। इस सम्बन्ध में डॉ० रामेश्वरलाल खंडेलवाल का मत द्रष्टव्य

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३४।
२. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २५।
३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३१।

है : "किन्तु समस्त कृतियों को देखने पर (ज्ञात होगा कि प्रसाद के नाटकों के संवादों में) रोचकता, सादगी, प्रवाह, स्वाभाविकता और पात्रोपयुक्तता का भी अभाव नहीं। संवाद प्रायः सर्वत्र कथा को विकसित करनेवाले एवं पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालनेवाले हैं।"[1]

उपर्युक्त अनुच्छेद के आरम्भ में 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों की पात्रोपयुक्तता की विवेचना करते हुए हमने 'प्रायः' शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया है, क्योंकि संभापणों की शैली-रचना में प्रसाद ने पात्रों को सर्वत्र ध्यान में नहीं रखा है। मिहिरदेव, कोमा, मंदाकिनी या शिखर-स्वामी यदि कहीं कविता की भाषा में बोलते हैं तो हमारी समझ में आता है, किन्तु मुसीबत तो यह है कि कभी कभी खड्गधारिणी-जैसे पात्र भी अपने कवित्व के पिटारे को खोलकर प्रेक्षकों को चमत्कृत ही नहीं, स्तंभित भी कर देते हैं। एक उक्ति पर्याप्त होगी : "देवि, यह वल्लरी जो झरने के समीप पहाड़ी पर चढ़ गयी है, उसकी नन्हीं नन्हीं पत्तियों को ध्यान से देखने पर आप समझ जाएँगी कि वह काई की जाति की है। प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर वही काई जो बिछलन बनकर गिरा सकती थी, अब दूसरों के ऊपर चढ़ने का अवलंब बन गई है।"[2]

'ध्रुवस्वामिनी' के सभी कथोपकथन अलंकृत या चमत्कारयुक्त नहीं हैं। पात्र जब विचार-विमर्श अथवा वाद-विवाद में संलग्न होते हैं, तब वे प्रायः सरल और स्वाभाविक भाषा का व्यवहार करते है। ध्रुवस्वामिनी-रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी-सामंत-कुमार, प्रतिहारी-रामगुप्त तथा रामगुप्त और शिखर-स्वामी के संवाद व्यावहारिकता और सादगी से भरपूर हैं। जीवन के साधारण प्रसंगों में, जहाँ प्रसाद को न किसी प्रकार की भावुकता की व्यंजना करनी होती है और न दार्शनिकता का प्रदर्शन, वहाँ वे भाषा को सरल रखते हैं। इस दृष्टि से द्वितीय अंक में शकराज के सामंतों का पारस्परिक संभापण द्रष्टव्य है :

"**तीसरा सामंत** : क्यों बक बक करते हो ? चुपचाप इस बिना परिश्रम की विजय का अनन्द लो। लड़ना पड़ता तो सारी हेकड़ी भूल जाती।

दूसरा सामंत : (क्रोध से लड़खड़ाता हुआ उठता है) हमसे !

तीसरा सामंत : हाँ जी तुमसे !

दूसरा सामंत : तो फिर आओ तुम्हीं से निपट लें।"[3]

संवादों की इस अकृत्रिमता ने नाटक को किसी अंश तक यथार्थ के निकट पहुँचा दिया है; इसके अभाव में पात्र प्रसाद के मनोजगत् के काल्पनिक पुतले बन जाते। 'ध्रुवस्वामिनी' के संवेगप्रधान कथोपकथनों में तो भाषा का प्रवाह है ही,

---

१. भारतीय नाट्य साहित्य; संपादक : डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३२६, डॉ० खंडेलवाल का 'प्रसाद के नाटक' शीर्षक लेख।

२-३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १६, ४१।

इन व्यावहारिक संवादों की भाषा का भी अपना ही सौंदर्य है। इनमें किसी प्रकार के चमत्कार का विधान नहीं किया गया है। किन्तु, इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि 'ध्रुवस्वामिनी' में चमत्कारमयी रचना है ही नहीं—वल्कि अनेक संवाद चमत्कार के वैशिष्ट्य से सम्पन्न हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने सामान्य रूप से प्रसाद के नाटकों में उक्ति-वैचित्र्य के अस्तित्व को चाहे कितना ही नकारा हो,[१] 'ध्रुवस्वामिनी' के विषय में उनका निष्कर्ष यही है :

" 'ध्रुवस्वामिनी' नवीन शैली का प्रयोग है। प्रसाद पर आरोप किया जा रहा था कि उनके नाटक काव्यरूपक हैं। उनके संवादों में कृत्रिमता का आरोप किया जाता था। कहा जाता था कि उनके संवादों में चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य और जवाब-सवाल की कमी है। यथार्थवादी लोगों ने इसे अवगुण माना है। यद्यपि प्रसाद ने अपनी शैली का निर्माण कर लिया था, परन्तु वे नवीन सृष्टि की योजना से विमुख नहीं थे। 'ध्रुवस्वामिनी' में उन्होंने यथार्थवादी संवाद, रंगमंच और प्रणाली अपनायी है। कथोपकथन स्वाभाविकता के अधिक समीप हैं। इसमें पाश्चात्य रीति से चमत्कार-प्रधान रचना का उपक्रम किया गया है।"[२]

कहीं कहीं गीत भी पात्रों की भावनाओं को व्यक्त करने के कारण संवादों के अंग बनकर आये हैं, जैसे कोमा का गीत। वस्तुतः रस के परिपाक में 'ध्रुवस्वामिनी' के गीतों ने विशेष योग दिया है। उनमें अनुभूति और कला दोनों का सम्मिश्रण है।

'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद सरस हैं। इनमें कविता के समान ही प्रमाता को तन्मय करने की क्षमता है। ये गद्यकाव्य के निकट हैं। शृंगार रस के प्रसंगों में ऐसे संवादों में एक विशिष्ट प्रकार की सुपेशलता आ गयी है।

'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद काव्यात्मक हैं। नाटकीय पात्रों के संवादों की रचना करते हुए प्रसाद अपने कवि-रूप को नहीं भुला पाये हैं। फलतः शैली में सर्वत्र कवित्व-गुण का समावेश हो गया है। कथ्य को सीधे-सादे निरलंकार रूप में कहने की प्रणाली उन्होंने नहीं अपनायी। उनकी शैली में चमत्कार की प्रधानता है। उन्होंने नाटक में गीतों की रचना करके ही काव्यात्मकता का समावेश नहीं किया, गद्यात्मक अंशों में भी काव्यमयता उत्पन्न की है। उनके दुःखात्मक एवं सुखात्मक दोनों प्रकार के नाटकों में यह प्रवृत्ति समान रूप में पायी जाती है—'ध्रुवस्वामिनी' भी इसका अपवाद नहीं है। इसके संवादों में भावों का वेग, अलंकारों का प्राचुर्य, कल्पनाजन्य रमणीय चमत्कार और आंतरिक संगीतात्मकताजनित प्रवाह है। प्रथम अंक में ध्रुव-स्वामिनी का चन्द्रगुप्त से मिलने के बाद का स्वगत,[३] द्वितीय अंक के प्रारंभ में कोमा का अश्राव्य[४] तथा तृतीय अंक में ध्रुवस्वामिनी के साथ उसका प्रेमविषयक वार्त्तालाप[५] इसी प्रकार के हैं।

१. देखिए 'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ १५४।

२. जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १६६-१६७।

३-४-५. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ३३, ३६-३७, ५५।

प्रभावित है। वाक्यों में प्रसाद ने प्राय: 'और भी', 'तव भी यह वात', 'अथवा इससे क्या', 'यह मैं आ गई हूँ' आदि शब्दों का प्रयोग किया है,[1] जो संस्कृत-नाटकों में पाये जानेवाले 'अपि च', 'अथवा अनेन किम्', 'इयमेषा समागता' आदि शब्दों के स्पष्ट हिन्दी-अनुवाद हैं और हिन्दी की प्रवृत्ति के विरुद्ध होने के कारण किसी भी आधुनिक नाटककार ने इनका प्रयोग नहीं किया है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में जो भावुकतापूर्ण विस्तृत संवाद पाये जाते हैं, उन पर 'हेमलेट', 'मेकवेथ', 'इयागो' आदि के काव्यात्मक संवादों का प्रभाव है। द्विजेंद्रलाल राय में भी यह दोष मिलता है, जिसका स्रोत ये अंग्रेज़ी के नाटक हैं। अंग्रेज़ी-नाटकों की भाँति प्रसाद के नाटकीय पात्र अपने स्वगतकथनों में भविष्य की चिन्तनाएँ करते हैं। सोलहवीं शती के अंग्रेज़ी-नाटकों के प्रभावस्वरूप 'ध्रुवस्वामिनी' में भावनामयी भाषा में स्वगतकथन हुए हैं, जिनमें पात्रों के मानसिक संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मतानुसार 'ध्रुवस्वामिनी' की चमत्कारप्रधान वाक्य-रचना भी पाश्चात्य रीति से प्रभावित है।[2]

पारस्परिक कथनोपथनों अथवा सर्वश्राव्य संभाषणों की भाँति स्वगतकथनों का 'ध्रुवस्वामिनी' में अनेकत्र प्रयोग हुआ है। स्वगत के विषय में उन्होंने लिखा है : "नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं वह दर्शक-समाज वा रंगमंच सुन लेता है, पर पास का खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उसको भरत वावा की शपथ है।"[3] इससे ज्ञात होता है कि वे स्वगत को नाटक की प्रविधि की दृष्टि से प्राकृतिक और बुद्धिसंगत नहीं मानते थे। किन्तु, अपने नाटकों में वे इसका मोह नहीं त्याग सके हैं। वस्तुतः यह ऐसा सशक्त उपादान है जिसके माध्यम से जीवन के सघन क्षणों को व्यक्त किया जा सकता है। स्वगतकथन में पात्र अपने चरित्र को तीन प्रकार से व्यक्त करते हैं—कभी तो उनके द्वारा सूक्ष्म तथा गूढ़तर आत्मदशा की व्यंजना होती है, कभी प्रगाढ़ जीवनानुभूतियों को व्यक्त किया जाता है और कभी धर्म, नीति, कला और दर्शन से संवद्ध गंभीर विचार प्रकट किये जाते हैं। इनमें से अंतिम ढंग स्वगतकथन का निकृष्टतम रूप है। 'ध्रुवस्वामिनी' के स्वगतकथनों ने प्रथम दो कार्य ही किये हैं। प्रथम अंक में ध्रुवस्वामिनी के स्वगत में उसकी गूढ़तर आत्मदशा की अभिव्यंजना हुई है। मंदाकिनी और कोमा के स्वगतकथनों में उनकी प्रगाढ़ जीवनानुभूतियों को व्यक्त किया गया है। 'स्कंदगुप्त' आदि में प्रसाद ने स्वगतकथनों के माध्यम से कुछ घटनाओं की सूचना भी दी थी, किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में ऐसा नहीं हुआ है। विवेच्य नाटक के स्वगतकथनों के विषय में यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राय: उनकी रचना नाटक के अंकों के प्रारंभ में ही हुई है, परन्तु कहीं कहीं ये दृश्यों के मध्य में भी आ गये हैं। विषय की

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ६३, ४३, ३२, ४८।
२. देखिये 'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ १६७।
३. विशाख, पृष्ठ २२।

दृष्टि से इनमें पात्रों की भविष्य चिंतनाओं की अभिव्यक्ति तो हुई है, अनेक स्थलों पर उनकी वैयक्तिक रुचि-अरुचि का भी अंकन किया गया है। शृंगार इन स्वगतकथनों का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। प्रणयी-युगल की आसक्ति का प्रकाशन करने के लिए प्रसाद ने प्रायः इन्हीं का आश्रय लिया है।

प्रसाद के अन्य नाटकों की भाँति 'ध्रुवस्वामिनी' के स्वगतकथन भी अनेक स्थलों पर लंबे हो गये हैं। भावावेग की अधिकता और काव्यात्मकता के अतिशय प्रयोग के कारण इनकी लंबाई तो विशेष नहीं खटकती, किन्तु जहाँ एक पात्र के स्वगत के ठीक बाद दूसरे पात्र का स्वगत रख दिया गया है, वहाँ अवश्य ही भद्दा लगता है। द्वितीय अंक के प्रारंभ में ही कोमा का स्वगत है,[1] जो इतना लंबा-चौड़ा है कि यदि वह अकेला होता, तो भी अस्वाभाविक लगता। इसके ठीक बाद स्वगत-रूप में उसके द्वारा जिस गीत का गायन कराया गया है, उसने इस अस्वाभाविकता को और भी बढ़ा दिया है। लगता है इससे भी प्रसाद का मन तृप्त नहीं हुआ—कोमा के मंच पर विद्यमान रहते हुए तुरन्त ही शकराज के द्वारा इसी क्रम में जो एक और स्वगत[2] कहलवा दिया गया है, उससे तो ऐसा लगता है कि प्रसाद यह भूल गये हैं कि वे नाटक लिख रहे हैं। अनेक स्थलों पर पात्र स्वगत के लिए ही जमकर बैठ गये हैं। प्रथम अंक में मंदाकिनी[3] तथा ध्रुवस्वामिनी[4] को इसी उद्देश्य से मंच पर अकेला छोड़ दिया गया है। निश्चय ही ऐसे दोषों से नाटक की रमणीयता को आघात पहुँचा है।

सामान्य रूप से 'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद रंगमंच की दृष्टि से सफल हैं। उनमें भावावेगजन्य रोचकता और प्रगाढ़ स्नेहाकर्षणजन्य सरसता है। प्रसाद ने कहीं कहीं संवादों में वस्तु का उद्घाटन कर उनमें नाटकीयता का भी समावेश किया है। प्रथम अंक की शिखर-स्वामी की उक्तियाँ प्रमाण-रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। कहीं-कहीं प्रसाद ने पूर्ववर्ती प्रसंग की किसी अन्य पात्र द्वारा पुनरुक्ति कराकर चमत्कार की सृष्टि की है। उदाहरण के रूप में द्वितीय अंक में ध्रुवस्वामिनी जब शकराज को धूमकेतु की याद दिलाती है,[5] तो उसे पूर्वप्रसंग का स्मरण हो आता है। संवादों के माध्यम से षड्यंत्र का जो मायाजाल फैलाया गया है, उसमें भी दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता है। 'ध्रुवस्वामिनी' के अनेक संवाद अत्यंत तीखे और चुटीले हैं। ऐसे संवादों के सद्भाव से ही यह नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल हो पाया है। एक उदाहरण देखिए :

"ध्रुवस्वामिनी : तुम लोग कौन हो ?

कोमा : मैं पराजित शक जाति की एक बालिका हूँ।

ध्रुवस्वामिनी : और ?

१-२-३-४. देखिये 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ३६-३७, ३७-३८, २०, ३३।

५. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ४६।

कोमा : और, मैंने प्रेम किया था।

ध्रुवस्वामिनी : इस घोर अपराध का तुम्हें क्या दंड मिला ?"[१]......आदि।

उक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि 'ध्रुवस्वामिनी' के अनेक संवाद संक्षिप्तता के वैशिष्ट्य से युक्त हैं। संवादों की संक्षिप्तता मंच की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रमुख गुण बन गयी है। इसमें ऐसे संवादों से कार्य-गति में क्षिप्रता आयी है। रंगमंच पर छोटे संवाद जितने सफल होते हैं, उतने लंबे संवाद नहीं। जब किसी विषय पर विवाद चल रहा हो और दो पात्र ओजयुक्त चुस्त संवादों का व्यवहार करें तो रचना में विशेष सौंदर्य आ जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' के संवाद इसी प्रकार के हैं। निम्नलिखित कथोपकथन इस स्थापना की पुष्टि करेगा :

"रामगुप्त : तुम महादेवी नहीं हो न ?

ध्रुवस्वामिनी : नहीं। मनुष्य की दी हुई उपाधि मैं लौटा देती हूँ।

रामगुप्त : और मेरी सहधर्मिणी ?

ध्रुवस्वामिनी : धर्म ही इसका निर्णय करेगा।

रामगुप्त : एं, क्या इसमें भी संदेह ?

ध्रुवस्वामिनी : उसे अपने हृदय से पूछिए कि क्या मैं वास्तव में सहधर्मिणी हूँ ?"[२]

उत्तर-प्रत्युत्तर में तीव्रता लाने के लिए प्रसाद ने कहीं कहीं अधूरे वाक्यों का भी प्रयोग किया है। इससे पात्र एक-दूसरे की बात काटते हुए स्वाभाविकता और सजीवता का विधान करते हैं। संवादों में पग पग पर व्यंग्य का प्रयोग भी इस नाटक की रंगमंचीयता में साधक सिद्ध हुआ। एक-आध स्थल पर प्रसाद ने संवादों में रंग-संकेत भी दिये हैं, जो उचित ही हैं।

इसी संदर्भ में विवेच्य रचना के संवादों की भाषा के विषय में विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा। यह ठीक है कि 'ध्रुवस्वामिनी' के संवादों की भाषा विभिन्न प्रसंगों में सर्वथा व्यावहारिक हो गयी है, फिर भी इससे यह निष्कर्ष निकालना कदाचित् समीचीन न होगा कि "यह नाटक अत्यन्त जल्दी में लिखा गया था और इसलिए प्रसाद को इसकी भाषा में 'दार्शनिकता तथा दुरूहता लाने का अवसर भी नहीं मिला।"[३] 'ध्रुवस्वामिनी' के अनेक संवाद पर्याप्त कठिन भाषा में लिखे गये हैं। नाटक का प्रारंभ ही ऐसी भाषा से हुआ है। आज का सामान्य प्रेक्षक, पर्दे के उठते ही जब ध्रुवस्वामिनी को "अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर"[४] कहते हुए पाता है, तो वह चौंक उठता है। माना कि यह नाटक 'खोमचे-वालों' के लिए नहीं लिखा गया है, फिर भी भाषा की दुरूहता को बचाकर उसे यथार्थ

१-२. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५४, ५६।

३. हिन्दी-नाट्यसाहित्य, व्रजरत्नदास, पृष्ठ १८१।

४. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ १४।

जीवन के निकट लाया जा सकता था। ऐसा न करना प्रसाद की अपनी सीमा है।

उक्त विवेचन से पाठकों को यह संकेत तो मिल ही गया होगा कि 'ध्रुव-स्वामिनी' के संवादों में गुण ही गुण नहीं हैं, दोष भी हैं। अनेक स्थलों पर भाषा की अस्वाभाविकता[१], उक्तियों की असंगतता[२], शास्त्रीयता[३], और भावान्वितिहीनता[४] ने संवादों के सौरस्य पर आघात किया है। परंतु इन दोषों के होने पर भी 'ध्रुव-स्वामिनी' की संवाद-योजना पर्याप्त सफल है। समग्र रूप से यह नाटक रंगमंच पर सफलता से अभिनीत किया जा सकता है। भाषा की कठिनाई कहीं कहीं अवश्य आती है किन्तु वह सर्वत्र बाधा उपस्थित नहीं करती, क्योंकि प्रसाद की भाषा का दोष केवल यही है; और गुण अनेक हैं। भावावेश में पात्रों की अनेक उक्तियाँ सूक्तियाँ बन गयी हैं। जैसे :

(अ) "ऐसा विनय प्रवंचकों का आवरण है जिसमें शील न हो।"[५]

(आ) "पाषाणी के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं। उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है।"[६]

(इ) "स्त्रियों का स्नेह-विश्वास भंग कर देना कोमल तंतु तोड़ने से भी सहज है।"[७]

(ई) "स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है।"[८]

निष्कर्ष यह कि 'ध्रुवस्वामिनी' की संवाद-योजना सफल है। प्रसाद ने संवादों से कथा का पुरस्सरण भी किया है और चरित्रों का विश्लेषण भी। संवाद-योजना करते हुए नाटककार ने मानव-मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता ली है। भाषा आदि के कुछ दोषों के कारण उसकी सफलता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता। भव्य कृति में दोष तो रहते ही हैं।



१-२-३-४. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ २१, ५२, ५७, ३१।

५-६-७-८. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३१, ३६, ४४, ५४।

मूल्यांकन | डॉ० गोविंद चातक

हिन्दी-नाटक का प्रारम्भ यद्यपि भारतेन्दु युग में अथवा उससे कुछ पूर्व हो चुका था, किन्तु उसका महत्त्वपूर्ण विकास उस युग में न हो सका। भारतेन्दु का युग नाटक के क्षेत्र में प्रारंभिक परीक्षण का युग था जिसने हिन्दी-नाटक को एक नई प्रेरणा अवश्य दी, किन्तु नई दिशा देने में वह पूर्णतः असमर्थ रहा। उस समय या तो जन-नाटकों की परम्परा मुख्य थी या अनुवादों के रूप में संस्कृत, अंग्रेज़ी और बंगला के नाटकों की। हिन्दी-नाटक ने समन्वित रूप में इन सभी क्षेत्रों से प्रभाव-ग्रहण करने का प्रयत्न किया, किन्तु कुल मिलाकर उसमें जिस शक्ति का संचार हुआ उसकी अपनी सीमाएँ थीं। वस्तुतः एक सशक्त विधा के रूप में हिन्दी-नाटक का विकास प्रसाद के नाटकों में ही मिलता है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस विकास की गौरवमयी भूमिका को तैयार करने का श्रेय भारतेन्दु और उनके सहयोगियों को है—शेक्सपियर और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवादों तथा पाश्चात्य नाट्यालोचन के सिद्धान्तों के परिचयस्वरूप हिन्दी-नाटकों में भावुकता के समावेश के लिए सहज प्रेरणा इसी युग में मिली। यही नहीं, इस युग में ही हम कई नाटककारों को कथावस्तु, पात्र और नाटकीय शिल्प सम्बन्धी संस्कृत-नाट्यशास्त्र की परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ते पाते हैं। अस्तु, यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग के नाटककारों ने प्रसाद और उनके युग के नाटककारों के लिए मार्ग प्रशस्त ही नहीं किया, वरन् दिशा-संकेत भी प्रस्तुत किए। इसीलिए प्रसाद की पृष्ठभूमि विशद थी—उनके सामने एक ओर भारतेन्दु की परम्परा थी, दूसरी ओर नितांत नवीन पाश्चात्य नाट्यशास्त्र की मान्यताएँ। भारतेन्दु ने भी यद्यपि पाश्चात्य मान्यताएँ स्वीकार की थीं, किन्तु वे मूलतः भारतीय नाट्यपरम्परा का ही अनुसरण करते रहे। प्रसाद ने अपने को न पहली परम्परा से मुक्त किया और न दूसरी को ही पूर्ण रूप से स्वीकार किया, वरन् उन्होंने दोनों का ऐसा समन्वय किया कि उनके नाटक विषय और शिल्प की दृष्टि से अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं।

प्रसाद की नाट्यकला के प्रारंभिक रूप के दर्शन 'राज्यश्री' (१९१५ ई०), 'विशाख' (१९२१), 'अजातशत्रु' (१९२२) तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२३) में होते हैं। इन प्रारंभिक नाट्यकृतियों में अपरिपक्वता के होते हुए भी 'अजातशत्रु' में पहली बार प्रसाद की नाट्यकला का सफल निदर्शन हुआ। 'स्कंदगुप्त' (१९२८) और 'चन्द्रगुप्त' (१९२८) में विकास की रेखाएँ और स्पष्ट हुई। ये नाटक वस्तु-संघटन और चरित्र-शिल्प की दृष्टि से यद्यपि सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, फिर भी ये प्रसाद

की नाट्यकला का सम्यक् प्रतिनिधित्व करते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३) उनकी अंतिम कृति ही नहीं, अन्यतम नाट्यप्रयोग भी है। यह ठीक है कि 'वह उनकी सामान्य नाट्यकला का अंतिम विकास नहीं है'[1] किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है है कि उसमें एक नई दृष्टि और नई संरचना का उपक्रम अवश्य किया गया है।

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद के अन्य नाटकों ('एक घूंट' और 'कामना' को छोड़कर) की भाँति ऐतिहासिक नाटक है जिसमें 'इतिहास के अप्रकाशित अंश' को प्रकाशित करने का उद्देश्य उतना नहीं, जितना इतिहास के गर्भ में छिपे जीवन्त आदर्श को देखने की भावना प्रमुख है। उन्होंने इतिहास के ध्रुव सत्यों के साथ जीवन के चल सत्यों का उद्घाटन ऐसी सजीव संभाव्यता के साथ किया है कि इतिहास जीवन की अभिव्यक्ति का साधन बनकर रह गया है। यद्यपि प्रसाद ने इस नाटक की कथावस्तु को इतिहास-ग्रंथों तथा साहित्यिक कृतियों ('देवीचन्द्रगुप्तम्', 'शृंगारप्रकाश', 'नाट्यदर्पण', 'हर्षचरित' आदि) से प्राप्त किया है, किन्तु उनकी महत्ता इस बात में है कि उन्होंने अपने चिंतनशील व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए अपने नाटक में सबके प्रमाणों को ज्यों का त्यों आधार नहीं बनाया। उदाहरण के लिए 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में रामगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों भाइयों में प्रारम्भ में (शक-युद्ध से पूर्व) सौहार्द का भाव दिखाई देता है।[2] यही नहीं, इस नाटक में ध्रुवदेवी और रामगुप्त के बीच भी विरोध के संकेत नहीं मिलते।[3] अबुल हसन अली कृत 'मजमलुत्तवारीख' में भी दोनों भाइयों के बीच विरोध का उल्लेख

---

१. जयशंकर प्रसाद, नंददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ १५८।

२. उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। न खल्वहं त्वां परित्यक्तमुत्सहे। प्रत्यग्र यौवन विभूषितमंगमेतद्, रूपश्रियंच तव यौवन योग्यरूपाम्; भक्ति च मय्यनुपमानुरुध्यमानो, देवीं त्यजामि बलवांस्त्वयि मे अनुरागः।

अर्थात् रामगुप्त चन्द्रगुप्त से कहता है: 'उठो, उठो! तुम्हारा त्याग करने में मैं असमर्थ हूँ। यौवन से भूषित तुम्हारे ये अंग, यह रूप श्री और मोहक सौंदर्य और मुझमें तुम्हारी अनुपम भक्ति इन सबको देखते हुए मैं तुम्हारा त्याग न कर ध्रुवदेवी को त्याग देता हूँ। तुम पर तो मेरा प्रबल अनुराग है।'

३. ध्रुवदेवी: यदि भत्ति अवेक्खसि तदो मंदभाइणि परिच्चयसि (यदि आप मेरी भक्ति भावना को देखें तो मुझ मंदभागिनी को कभी त्यागेंगे नहीं।)···अहं वि जीविदं परिच्चअंती अज्जउत्तं पढमदरजेव्व परिच्चइस्से (मैं भी प्राण त्याग करके स्वामी को त्याग दूंगी।)

राजा (रामगुप्त): दृढ़ेति देवि प्रति मे दयालुता। (देवी के प्रति मेरी दयालुता अभी भी दृढ़ है।)

संदर्भ के लिए देखिए 'प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक', डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी, पृष्ठ १२९-१३८ तथा 'प्रसाद के नाटक', परमेश्वरीलाल गुप्त, पृष्ठ १२९-१३२।

नहीं है।[1] उसमें वस्तुतः रव्वाल (रामगुप्त) की सेना शकराज पर विजय पाने में वर्कमारीस (विक्रमादित्य) की सहायता करती बताई गई है। इस घटना के पश्चात् ही रामगुप्त चन्द्रगुप्त से सशंक हो जाता है और 'मदनविकार' ग्रस्त अथवा 'उन्मत्त छद्मप्रचारी' बनकर अंततः चन्द्रगुप्त उसकी हत्या कर डालता है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्', 'आयुर्वेद दीपिका', 'मजमलुत्तवारीख' तथा संजन ताम्रपत्र इसका समर्थन करते हैं। इन प्रमाणों के बावजूद प्रसाद ने ऐतिहासिक आधार को ज्यों का त्यों स्वीकार न करके अपने नाटककार-व्यक्तित्व का सहज और सुन्दर परिचय दिया है। इसीलिए अबुलहसन अली की वर्कमारीसवाली कथा का अनुसरण करते हुए प्रसाद को यह स्वीकार्य न था कि चन्द्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी को स्वयंवर में प्राप्त किया था और बाद में उस पर मुग्ध होने के कारण रामगुप्त ने उसे बलपूर्वक अपनी महादेवी बना लिया था।[2] इस संबंध को इस रूप में स्वीकार करना भारतीय आदर्श के विरुद्ध होता। इसलिए प्रसाद ने उसे चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता ही माना है जो 'चामर सज्जित अश्व पर चढ़कर' ध्रुवस्वामिनी को शिविका पर बिठाकर लाया था।[3] प्रयाग-प्रशस्ति के 'कन्योपायनदान' के आधार पर इस 'आदर सहित लिवा लाने' को युक्तिसंगत कहा जा सकता है। इसी प्रकार प्रारम्भ से ही दोनों भाइयों में सौहार्द न दिखाकर प्रसाद ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है; साथ ही शील, विनय और कुल-मर्यादा के आवरण में चन्द्रगुप्त को निष्क्रिय दिखाकर किंचित् परम्परा से भी समझौता कर लिया है। ध्रुवस्वामिनी को छद्मवेशी चन्द्रगुप्त के साथ शक-विजय के लिए भेजना भी प्रसाद की अपनी नाट्य-उद्भावना है जो दोनों के प्रेम को और अधिक निकटता प्रदान करने के लिए की गई जान पड़ती है। चन्द्रगुप्त की कृत्रिम विक्षिप्तता भी प्रसाद को स्वीकार्य न थी। संभवतः वे चन्द्रगुप्त को इस स्तर तक गिराने के पक्ष में न थे। इसी प्रकार भाई के द्वारा भाई की हत्या ऐतिहासिक सत्य हो सकता है, किन्तु नाटकीय सत्य की कलात्मकता उसमें सम्भव नहीं जान पड़ती। वास्तविक जीवन का सत्य कभी इतना विचित्र होता है कि उसकी प्रतीति नहीं होती। भाई की हत्या का सत्य भी ऐसा ही सत्य है। यदि प्रसाद ने इसे तथ्य-रूप में ही प्रस्तुत किया होता तो यह प्रभावहीन ही न होता, रस की निष्पत्ति में भी बाधक होता। सामंतकुमार के हाथों रामगुप्त की हत्या दिखाकर प्रसाद ने इस स्थिति को ही नहीं बचाया, जनता की शक्ति को भी व्यंजित किया है।

---

१. देखिये (अ) जर्नल ऑव बिहार ऐण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी, १८/१९३२ में प्रकाशित डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल का लेख; (आ) हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड १, इलियट और डॉसन, पृष्ठ ११०-११२।

२. देखिए (अ) जर्नल ऑव बिहार ऐण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी, १८/१९२८; (आ) प्रसाद के नाटक, परमेश्वरीलाल गुप्त, पृष्ठ १२८।

३. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ३०।

कथावस्तु के सोद्देश्य काल्पनिक अंश के रूप में प्रसाद ने कोमा और शकराज के प्रणय-प्रसंग को प्रस्तुत करके 'ध्रुवस्वामिनी' को एक नयी प्रभाववत्ता प्रदान की है। कोमा के तिरस्कृत प्रेम की व्यंजना नारी के प्रति पुरुष के अत्याचारों और विश्वासघात को नाटक में और गहरा रंग देती है और इस प्रकार यह प्रसंग दोनों पात्रों की समानता और विषमता में मूल कथा की मुख्य संवेदना को बल प्रदान करता है। एक और दृष्टि से भी यह प्रसंग महत्वपूर्ण है। 'ध्रुवस्वामिनी' की बुद्धिवादिता की तुलना में प्रेम के लिए समर्पण और उत्सर्ग का घिसा-पिटा पुराना आदर्श उपस्थित करनेवाली कोमा की भावुकता पाठक के मन को करुणा से सिक्त कर देती है। ऐसे स्थलों पर लगता है जैसे जो ध्रुवस्वामिनी में नहीं है, वही कोमा के चरित्र की श्री है। यही नहीं, कथावस्तु में एक नया स्पंदन भरने और वैषम्य के माध्यम से अपने चिंतन को अभिव्यंजित करने की दृष्टि से भी यह प्रसंग विशिष्ट महत्त्व रखता है।

कथावस्तु के चयन में प्रसाद कितने कुशल थे, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसी कथानक को लेकर सुप्रसिद्ध इतिहासकार राखालदास बनर्जी ने 'ध्रुवा' उपन्यास[1] और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नाटक की (क्रमशः बंगला और गुजराती में) रचना की है। इन कृतियों के अध्ययन के पश्चात् प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। 'ध्रुवा' उपन्यास की कथावस्तु और पात्रों में कुछ विस्तार है। उपन्यास का प्रारम्भ नर्तकी माधवसेना के प्रति रामगुप्त के दुर्व्यवहार से होता है। चन्द्रगुप्त इसका विरोध करके उसकी रक्षा करता है। रामगुप्त की माता जयस्वामिनी कैकेयी की भाँति वर में अपने पुत्र के लिए राज्य माँग लेती है। महानायक रुद्रधर यह ज्ञात हो जाने पर कि राज्याधिकार चन्द्रगुप्त को नही वरन् रामगुप्त को मिलेगा, अपनी पुत्री को रामगुप्त के राजभवन में भेज देता है। रुद्रधर चन्द्रगुप्त की याचना को ठुकरा देता है और चन्द्रगुप्त माधवसेना की ओर उन्मुख होता है। फिर वह विरह-विह्वल होकर पागलों-जैसा व्यवहार करने लगता है। उधर मथुरा और सौराष्ट्र में शक महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं और फिर मगध पर आक्रमण करते हैं। रामगुप्त स्वयं ध्रुवा को उपहार में देने का प्रस्ताव करता है। चन्द्रगुप्त उसे साथ ले जाने की अपेक्षा शकराज पर विजय प्राप्त करने के लिए स्वयं माधवसेना के साथ प्रयाण करता है। जब वह विजयी होकर लौटता है तो एक कुमारी कन्या के शीलहरण के प्रसंग में रामगुप्त की हत्या हो चुकी होती है! फलतः अन्त में अन्यपूर्वा ध्रुवा चन्द्रगुप्त की महादेवी बन जाती है।

मुंशी ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नाटक को 'एक अप्राप्त नाटक का नवदर्शन' कहा है।[2] इस नाटक को मूलतः 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के कथांशों पर आधारित माना

---

१. प्रकाशक: नागरीप्रचारिणी सभा, सं० २०२२।

२. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी देवी', कन्हैयालाल मुंशी, प्रकाशक: किताब महल, १९४८-६०।

जाता है।[1] मुंशी ने कालिदास, हरिसेन, शशिलेखा, माधवी, मधुरिका, दत्तदेवी, गुहसेन, स्कंद, दमन, सांख्याचार्य आदि कुल मिलाकर उन्नीस पात्रों की सृष्टि की है। नाटक कालिदास और माधवी के प्रेम से प्रारम्भ होता है। महाक्षत्रप रुद्रसेन उज्जयिनी पर आक्रमण करता है। चन्द्रगुप्त लगातार दो वर्ष तक युद्धनिरत रहने के पश्चात् कुसुमपुर लौटता है और गुप्तकुल को पराजय के कलंक से बचाने और सेना में विजयोत्साह लाने के लिए रामगुप्त से साथ चलने का आग्रह करता है, किन्तु रामगुप्त इसे अपने आनन्द में 'असमय का विक्षेप' समझकर अस्वीकार कर देता है : 'मैं मरे हुओं की कीर्ति के लिए राज नहीं करता, अपने आनन्द के लिए करता हूँ। इस चन्द्र को कीर्ति चाहिए तो कट मरे।' फलत: मगध की सेना पराजित होती है और क्षत्रप रुद्रसेन सुन्दरी ध्रुवदेवी की माँग करता है। चन्द्रगुप्त कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए अकेला स्वयं ध्रुवदेवी का छद्म वेश बनाकर कुछ योद्धाओं को लेकर शकपति से युद्ध करने चल पड़ता है। वह जब विजयी होकर लौटता है तो रामगुप्त के दुराचारों से भी चिंतित हो उठता है और विक्षिप्तता का अभिनय करने लगता है। ऐसी स्थिति में ध्रुवस्वामिनी से प्रेमालाप करते हुए रामगुप्त उसे देखता है तो गुहसेन को उसकी हत्या का आदेश देता है, किन्तु चन्द्रगुप्त रामगुप्त को ही मार डालता है। अंतत: याज्ञवल्क्य उसके साथ ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न की स्वीकृति देता है और दोनों के विवाह, स्कंद और वात्स्यायन के विद्रोह के शमन तथा शकराज की पराजय के उपरान्त नाटक समाप्त हो जाता है।

राखालदास बंद्योपाध्याय के उपन्यास और मुंशी के नाटक दोनों की अपनी विशेषताएँ हैं। राखालदास बंद्योपाध्याय के उपन्यास से प्रसाद परिचित थे या नहीं, किन्तु उनकी ध्रुवस्वामिनी सम्बन्धी शोध से पूर्णत: अवगत थे।[2] इसी प्रकार, यद्यपि डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा है कि मुंशी का 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नाटक प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' के १६ वर्ष बाद प्रकाशित हुआ[3] (?) किन्तु वास्तविकता यह है कि वह १९२९ में लिखा गया था।[4] हम यह नहीं कहना चाहते कि प्रसाद मुंशी की नाट्यकृति से परिचित थे, किंतु इसमें संदेह नहीं कि दोनों समकालीन कृतियाँ हैं। इस समसामयिकता के बावजूद राखालदास बंद्योपाध्याय, मुंशी और प्रसाद के वस्तु-विन्यास में पर्याप्त अंतर है। मुंशी का नाटक पात्रों के अंतर्द्वंद्व को प्रस्तुत करने का प्रयास

---

१. देखिए 'हिन्दी और गुजराती नाट्यसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन', डॉ० रणधीर उपाध्याय पृष्ठ, १४०।

२. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', सूचना, पृष्ठ ४।

३. देखिए 'हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास', डॉ० दशरथ ओझा, पृष्ठ २५४।

४. देखिए 'हिन्दी और गुजराती नाट्यसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन', पृष्ठ १४२।

अवश्य करता है किन्तु कई दृष्टियों से वह प्रभावित नहीं कर पाता। पात्रों की भीड़ में कालिदास, हरिसेन, स्कंद, याज्ञवल्क्य जैसे महत्त्वपूर्ण पात्र उभर नहीं पाए हैं। गौण पात्रों में केवल रामगुप्त और चन्द्रगुप्त की माता दत्तदेवी ही ऐसे हैं जो नाटक के सूत्र को हाथ में लिए हुए हैं। विचित्र वात यह है कि शकराज रुद्रसेन उज्जयिनी के राज-प्रासाद में उपस्थित होकर रामगुप्त से 'भाव करने' आता है। पहले वह उज्जयिनी-क्षेत्र, पाँच हज़ार घोड़े और दस हज़ार दीनार लेकर तुष्ट हो जाना चाहता है, किन्तु जव संयोगवश उसकी दृष्टि ध्रुवदेवी पर पड़ती है तो सवके वदले केवल ध्रुवदेवी की ही माँग कर वैठता है।[1] ये सव वातें ध्रुवदेवी के ही सामने होती हैं। इस भाव-ताव में विरोध भी प्रकट कराया गया है, पर वह निर्वीर्य है। चन्द्रगुप्त इस नाटक में ध्रुवदेवी को अपने साथ शकविजय के लिए नही ले जाता। वह राजभवन में रहकर 'क्या होता है, क्या होगा' की प्रतीक्षा में वैठी रहती है। आते ही चंद्रगुप्त जिस विक्षिप्तता का अभिनय करता है, मुंशी ने उसे वड़ी सफलता से चित्रित किया है। उसमें ध्रुवदेवी की प्रणय-भावना उभरकर सामने आती है और चन्द्रगुप्त का प्रेम भी किंचित् मुखर है। मुन्शी का चन्द्रगुप्त दो दो युद्ध करता है किन्तु फिर भी वह वहुत से स्थलों पर दुर्वल मानव है। कुल मिलाकर प्रसाद का वस्तु-विन्यास, चरित्र-शिल्प और चिंतन तुलना में अधिक प्रभावित करता है, किन्तु मुंशी की ध्रुवदेवी प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी की अपेक्षा अधिक जीवंत चरित्र है। उसमें ऊपर से थोपी हुई वौद्धिक वाचालता नहीं है, किन्तु परिस्थितियों से जूझनेवाले सहज-स्वाभाविक नारीत्व की झलक है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

'ध्रुवा' अपने में ऊँची साहित्यिक कृति नहीं है, किन्तु उसमें सर्वत्र मानवीय दृष्टि के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए इस उपन्यास में रामगुप्त को यद्यपि विलासी के रूप में चित्रित किया गया है फिर भी वहुत-सी वुराइयों के लिए वह प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं प्रतीत होता। वह चंद्रगुप्त के राज्याधिकार का अपहरण नहीं करता वरन् यह उसे अपनी माता जयस्वामिनी के सामने 'पच्चीस वर्ष पहले अक्षय तृतीया के दिन पाटलिपुत्र के जीर्ण-शीर्ण वासुदेव मन्दिर में देवमूर्ति का स्पर्श करके' युवा-वस्था की क्षणिक उत्तेजना में समुद्रगुप्त द्वारा की गई प्रतिज्ञा के फलस्वरूप प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त की माता दत्तदेवी प्रसाद की वासवी ('अजातशत्रु' में) के समान पति-भक्ता है, जो अपने पति की प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए अपने पुत्र को राज्य की ओर से विरक्त वना देती है। इस प्रकार जहाँ प्रसाद के चन्द्रगुप्त में विनय और मर्यादा के आवरण में उसकी विवशता ही व्यक्त होती है वहाँ 'ध्रुवा' उपन्यास का चन्द्रगुप्त माता के नैतिक अंकुश के कारण अपने अन्दर ही अन्दर सुलगता दिखाई देता है। कर्त्तव्य और वचनवद्धता के वीच जूझते पिता द्वारा रामगुप्त को राज्य दिये जाने के

---

१. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी देवी', क० मा० मुंशी, पृष्ठ ३५-३६।

कारण चन्द्रगुप्त राज्य के प्रति उदासीन है। ऐसा प्रसाद ने भी कराया है, किन्तु परिस्थिति की कल्पना और संकेत में वे असफल रहे हैं। केवल विनय और थोथी मर्यादा का वहाना वनाकर चन्द्रगुप्त की निष्क्रियता की व्याख्या करना युक्तिसंगत नहीं लगता जवकि स्वयं चन्द्रगुप्त जानता है कि 'ऐसा विनय प्रवंचकों का आवरण है।' 'ध्रुवा' में परिस्थिति का तर्कपूर्ण समावेश है। इसी प्रकार रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी के अपहरण के सम्वन्ध में प्रसाद आरम्भ से ही मौन हैं। वंद्योपाध्याय ने इसके लिए कुछ संगत कल्पनाएँ की हैं। उनके अनुसार ध्रुवा का पिता महानायक रुद्रधर पहले अपनी पुत्री की सगाई चन्द्रगुप्त के साथ करता है, किन्तु वाद में रामगुप्त के राजा वन जाने पर स्वयं उसे उसके अन्तःपुर में भेज देता है। इस प्रकार रामगुप्त न राज्य छीनता है और न भाई की वाग्दत्ता को। ऐसी स्थिति में जहाँ प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी प्रारम्भ में रामगुप्त की महादेवी होना स्वीकार कर लेती है, वहाँ ध्रुवादेवी प्रारम्भ से ही अपने को चन्द्रगुप्त की पत्नी घोषित किये जाने पर विरोध करती है। इस विरोध में ध्रुवादेवी का चरित्र प्रारम्भ में ध्रुवस्वामिनी की अपेक्षा अधिक ओजस्विता लिए हुए है। प्रसाद ने रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी में 'प्रथम संभाषण' का अवसर न देकर दोनों पात्रों के साथ अन्याय किया है।'ध्रुवा' उपन्यास में रामगुप्त की हत्या के वाद पुरोहित विश्वरूप अन्यपूर्वा ध्रुवादेवी और चन्द्रगुप्त के परिणय-सूत्र में व्याघात उपस्थित करना चाहते हैं; किन्तु वे दोनों शक्तिपूर्वक विरोध करते हैं और चन्द्रगुप्त तो इसके लिए अपना आर्यपट्ट तक त्यागने को उद्यत हो जाता है। यहीं प्रसाद का चन्द्रगुप्त 'ध्रुवा' उपन्यास के नायक की अपेक्षा दुर्वल और मूक दिखाई देता है। प्रसाद ने सारा काम ध्रुवस्वामिनी से लिया है और उसके सामने चन्द्रगुप्त यंत्रचालित-सा प्रतीत होता है।

इस विवेचन से कथावस्तु के चयन सम्वन्धी कुछ विशेषताएँ सामने आती हैं। दोषों को लें तो कह सकते हैं कि प्रसाद 'ध्रुवस्वामिनी' की घटनाओं के पूर्वपक्ष का संकेत नहीं दे पाये हैं, जिससे चरित्र की रेखाएँ गहरी नहीं हो पाई हैं। मंदाकिनी और ध्रुवस्वामिनी का सम्वन्ध-सूत्र (भाभी ?), ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त का वैवाहिक सम्वन्ध, रामगुप्त की उसे उपहार में देने की तत्परता, चन्द्रगुप्त की राज्याधिकार सम्वन्धी उदासीनता आदि कई प्रसंग और प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनकी कार्य-कारणयुक्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रसाद नहीं दे सके हैं। मुख्य कारण यह है कि प्रसाद ने प्रेक्षक अथवा पाठक की कल्पना के लिए वहुत-कुछ छोड़ दिया है और समस्त नाटक में रेखांकन से काम लेकर एकांकी-जैसी शैली का अनुसरण किया है। इसीलिए मनोवैज्ञानिक पूर्णता के साथ कोई चरित्र उभरकर नहीं आता है। इस दोष का विरोध अथवा समर्थन चाहे इसे 'नवीन नाट्यप्रयोग' कहकर किया जाय, चाहे जल्दी में लिखा हुआ नाटक कहकर, यह निश्चित है कि 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की श्रेष्ठ कृति नहीं है। फिर भी मुंशी के नाटक और राखालदास वंद्योपाध्याय के उपन्यास की तुलना में इसे महत्त्वपूर्ण कृति ही कहा जायेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि विषयवस्तु के संचयन में

प्रसाद ने (मुख्यतः रामगुप्त की हत्या, चन्द्रगुप्त को विक्षिप्त न दिखाने, शकविजय के अवसर पर ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के साथ जाने, कुवड़े-बौने-हिजड़े आदि प्रसंगों में) अद्‌भुत सूझबूझ से काम लिया है। प्रसाद की असफलता यदि कही झलकती है तो विषयवस्तु की विवृत्ति और चरित्रों की अपूर्ण योजना में।

आलोचकों ने प्रसाद के पात्रों को देवता, दानव और मानव—इन तीन वर्गों में विभाजित किया है।[1] यदि यह विभाजन ठीक है तो प्रसाद के आलोचकों की भांति प्रसाद ने भी अपने पात्रों की सृष्टि में सही दृष्टि का परिचय नही दिया है, क्योकि देव, दानव और मानव कभी एक ही देह में सह-अस्तित्व की भावना के साथ भी निवास करते है! वाह्य और अंतर्जगत् मे वस्तुतः असत् और सत् एकसाथ क्रियाशील रहते हैं। मनोविज्ञान के युग मे रहनेवाले प्रसाद जैसे प्राणवान् अन्तर्द्रष्टा साहित्यकार इस सत्य से अपरिचित थे, यह कहना तो उचित नही होगा। किन्तु चाहे कोई पात्र दानव हो या देवता, यदि नाटककार उसकी मानवता अथवा दुर्बलता न उभार सके तो उसकी सीमाएँ ही सामने आती है। प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के चित्रण में वर्ग-भावना से जरूर काम लिया है, किन्तु जीवंत पात्रों की सृष्टि वे नही कर पाये। रामगुप्त सम्पूर्ण नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक एक ही काली स्याही से रँगा गया है। वह प्रसाद के शब्दों में विलासी, क्लीव, क्षीव, मर्यादाहीन, कायर आदि सभी कुछ है, किन्तु मानव कहीं पर भी नही है। परिस्थितियों, संस्कार और मनोवैज्ञानिक विवशताओं के बीच उसका चरित्र कही भी संवेदना नही जाग्रत करता। ठीक इसके विपरीत प्रसाद उत्तरोत्तर उसके प्रति हमारी घृणा उभारते जाते है। फलतः रामगुप्त पात्र की अपेक्षा प्रतीक बनकर रह जाता है। जिन स्थलों पर प्रसाद इस प्रवृत्ति से बच पाये है, वहाँ रामगुप्त का चरित्र बहुत सजीव बन पड़ा है। उदाहरण के लिए 'युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है······देखती नहीं जगत् की अनुपम सुन्दरी मुझ से स्नेह नही करती' (पृष्ठ १६), 'आह, ध्रुवदेवी, उसके मन में टीस है' (पृष्ठ १६), 'ए, क्या कहने हो अमात्य, क्या वह महादेवी को माँगता है' (पृष्ठ २३), 'ओह, तुम्हारा वह घातक स्पर्श बहुत ही उत्तेजनापूर्ण है, मैं—नही; तुम, मेरी रानी ? नही, नही' (पृष्ठ २७), आदि उक्तियां रामगुप्त के चरित्र की रजत रेखाओं को उसकी समस्त कालिमा के बीच भी उभारकर रखती है। प्रसाद ने इस विधि और सहानुभूति से यदि अधिक काम लिया होता तो रामगुप्त उनकी नाट्यकृति का एक जीवंत चरित्र होता। यद्यपि नाटकों मे मनोवैज्ञानिक तत्त्व के एक अध्येता ने उसके चरित्र में हीनता तथा कामग्रंथियां खोज निकाली है,[2] किन्तु प्रसाद ने इस चरित्र की योजना इस प्रकार की है कि उसका व्यवहार उन मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को प्रकट नही करता। वस्तुतः

---

१. हिन्दी नाटक उद्‌भव और विकास, डॉ० दशरथ ओझा, पृष्ठ २५६।
२. आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० गणेशदत्त गौड़, पृष्ठ १८५।

रामगुप्त के प्रति घृणा का आधार क्लीवत्व और स्त्री-सम्प्रदान ही पर्याप्त नहीं प्रतीत होता। लांछन तो ध्रुवस्वामिनी पर भी लगाया जा सकता है—'जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है' उसकी नैतिकता का औचित्य किस बात में है? विवशता स्वयं अपने में दुर्बलता है जिसे अनैतिक ही कहा जा सकता है। रामगुप्त के विरोध में यह बात जरूर कही जा सकती है कि नारी के स्वत्व की रक्षा के लिए पुरुष ने बड़े त्याग किए हैं और स्वयं नारी ने भी जौहर की ज्वालाएँ झेली हैं। किन्तु रामगुप्त का दृष्टिकोण भी, चाहे वह नैतिक-अनैतिक कुछ भी हो, एक दृष्टिकोण है। वह चाहता है कि महादेवी मुझसे और केवल मुझसे प्यार करे। प्रसाद ने कापुरुष रामगुप्त के 'हृदय के युद्ध' में आहत रूप को सहानुभूति के साथ देखने का प्रयास नहीं किया है।

ध्रुवस्वामिनी के चरित्र-नियोजन में भी प्रसाद ने उसके संस्कारों, परिस्थिति और व्यवहार में तर्कसंगत संतुलन स्थापित नहीं किया है। ध्रुवस्वामिनी प्रारंभ में ऐसी नारी के रूप में सामने आती है जो प्रभुत्व की साकार कठोरता में सीधे तने हुए उन्मुक्त अभ्रभेदी शिखर के आगे क्षुद्र कोमल-निरीह लताओं की उसके चरणों में लोटने की बाध्यता का अनुभव करती है और इस अपमान और यन्त्रणा को जैसे अपने जीवन का सत्य स्वीकार कर लेती है क्योंकि 'राजचक्र सबको पीसता है, पिसने दो; हम दुर्बलों और निस्सहायों को भी पिसने दो!' वल्लरी की भांति पहाड़ी पर चढ़ जाना उसके लिए 'बहुत दूर की बात है।' यहाँ तक कि जब रामगुप्त उसे शकराज के पास भेजने का प्रस्ताव करता है तो उसका रहा-सहा 'अहंकार भी चूर्ण' हो जाता है और वह उसके 'विलास की सहचरी' होने को उद्यत हो जाती है। कुल मिलाकर ध्रुवस्वामिनी का यह चरित्र इतना दुर्बल है कि उसके छिन्नमस्ता का रूप धारण करने की आशा नहीं की जाती। यह ठीक है कि अपने स्त्रीत्व की रक्षा में असहाय हो जाने पर सुप्त सिंहनी का स्त्रीत्व जाग उठता है; किन्तु नाटक के पूर्वार्द्ध में कहीं उसके इस रूप का आभास नहीं मिलता। उसके आरंभिक चरित्र में कहीं ऐसी आग तो दूर रही, चिनगारी भी नहीं। मेरी दृष्टि में, ध्रुवस्वामिनी के पूर्व रूप और उत्तर रूप में प्रसाद सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाए। बाद में वह जो कुछ करती है वह उसके पूर्व रूप का स्वाभाविक विकास प्रतीत नहीं होता और उससे उसकी शक्ति की व्यंजना नहीं हो पाती।

कोमा का चरित्र प्रसाद के स्त्री पात्रों के उस वर्ग में आता है जिसमें डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में करुण गन्ध छोड़ जाने-वाली फूल-सी सुकुमारियाँ'[1] आती हैं। उस गतिमय चरित्र में जहाँ 'सूक्ष्म कोमल गीति-प्रतिमा का प्रोद्भास है'[2] वहाँ वह वर्ग पात्र भी है, क्योंकि 'वह किसी भी युग की

१-२. आधुनिक हिन्दी नाटक, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १२, १३।

आदर्श नारी कही जा सकती है ।'[1] यह बात दूसरी है कि 'आज के युग में वह दया की पात्र से अधिक कुछ नहीं ।'[2] उसके चित्रण में प्रसाद की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति और छायावादी कविता बोल रही है। इस दृष्टि से सारा चरित्र वायवी है।

कोमा प्रेम की भावुक परीक्षा में अपने ढंग से उत्तीर्ण हो भी जाती है, किन्तु चन्द्रगुप्त प्रेम और कर्त्तव्य दोनों में पौरुष का परिचय नहीं देता। वस्तुतः किसी एक पक्ष में वह भी रामगुप्त की तरह ही क्लीव है। प्रसाद ने उदासीनता के आवरण में उसके चरित्र को सही दिशा में पनपने नहीं दिया। उसके पौरुष का आधार नारी है। इसीलिए स्त्रैण चन्द्रगुप्त रामगुप्त की शृंखलाएँ तब तोड़ता है जब उसके सैनिक ध्रुवस्वामिनी को वन्दिनी बनाने के लिए अग्रसर होते हैं। इस प्रकार अकस्मात् शक्ति का उदय नाटकीय हो सकता है, किन्तु ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करना जीवन के लिए उपादेय नहीं हो सकता।

स्पष्ट है कि पात्रों के चित्रण में लेखक सफल नहीं हुआ है। गौण पात्रों में मंदाकिनी का चरित्र सोद्देश्य है, किन्तु आचार्य मिहिरदेव-जैसे व्यक्ति के लिए पलायन उचित नहीं प्रतीत होता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रसाद की चरित्र-परिकल्पना की इस दुर्बलता के पीछे कुछ आधार अवश्य हैं। उदाहरण के लिए रामगुप्त की चरित्र-योजना में प्रसाद का ध्यान सदैव उस प्राचीन परिपाटी की ओर रहा है जिसके अनुसार (काव्य-न्याय अथवा नेमिसिस सम्बन्धी धारणा के अनुरूप) अनिष्ट के शिकार हुए पात्र का खल होना अनिवार्य माना जाता है। प्रसाद इसी आधार पर उसके लिए तिल-मात्र सहानुभूति भी हमारे हृदय में नहीं छोड़ना चाहते हैं। इसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी को नारी-समस्या के मूल में स्थापित करने के लिए वे चन्द्रगुप्त की उपेक्षा कर जाते हैं। फिर भी चरित्र-चित्रण के इन आग्रहों के बावजूद प्रसाद चरित्रों को समस्या के अनुकूल नहीं ढाल सके हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से प्रसाद ने नारी के अस्तित्व, अधिकार और पुनर्लग्न की समस्या को प्रस्तुत किया है। किन्तु, सच पूछा जाये तो ध्रुवस्वामिनी में वह दृढ़ता नहीं जो समस्या के लिए जूझने और समाधान पाने के लिए अपेक्षित है। उसके सम्बन्ध में कुछ प्रश्न स्वतः ही मन में उठते हैं: ध्रुवस्वामिनी यदि सच्चे हृदय से चन्द्रगुप्त से प्रेम करती थी तो उसने रामगुप्त की महादेवी होना क्यों स्वीकार किया? इसके लिए उसमें विरोध का भाव कहाँ है? यदि कुछ है तो एक प्रकार की उद्विग्नता मात्र है! यदि वह अपने को असहाय समझकर आत्महत्या के लिए उद्यत होती है तो ऐसा आक्रोश क्या वह रामगुप्त की महादेवी बनने के विरोध में नहीं प्रकट कर सकती थी? हमारी दृष्टि में रामगुप्त और शकराज एक-से आततायी हैं। फिर ध्रुवस्वामिनी के लिए एक की महादेवी (अनिच्छापूर्वक ही सही) बनने और दूसरे से मर्यादा की रक्षा का प्रश्न (जबकि वह उसकी मँगेतर भी थी) कहाँ तक उचित है? अन्ततः वह रामगुप्त से मुक्ति चाहती है, यह दृढ़ संकल्प

१-२. प्रसाद के नाटक, परमेश्वरीलाल गुप्त, पृष्ठ १५० ।

अवश्य है किन्तु इसकी पूर्ति और पुनर्लग्न के लिए रामगुप्त की मृत्यु अनिवार्यता बनकर सामने आई है। यदि उसकी हत्या के बाद ही उसका पुनर्लग्न सम्भव था तो फिर समस्या रह ही कहाँ जाती है—कम से कम यह तो निश्चित है कि उसकी तीव्रता नष्ट हो जाती है। इस सब-कुछ की अनुमति के लिए भी प्रसाद ने धर्म का आदेश चाहा है। प्रसाद धर्म की इतनी चिन्ता करते रहे कि ध्रुवस्वामिनी के अक्षत कौमार्य को दिखाने के लिए ही उन्होंने रामगुप्त और उसके काम-सम्बन्ध को नकारने की चेष्टा की क्योंकि धर्म ऐसी विवाहित 'कन्याओं' के पुनर्लग्न का निषेध नहीं करता। वस्तुतः साहस के प्रदर्शन के बाद ध्रुवस्वामिनी जिस धर्म के निर्णय की प्रतीक्षा करती है, वह उसे उस स्थल पर दुर्बल बना देता है। 'ध्रुवा' उपन्यास के आचार्य विश्वरूप की भाँति 'अन्तःकरण जिस सार-सत्य की प्रेरणा देता है उसी का अनुसरण करो'[1] को यदि मानव हृदय का सर्वोत्तम धर्म मान लिया जाये तो फिर किसी धर्म और शास्त्र की अपेक्षा नहीं रह जाती। शास्त्रों का धर्म कितना विचित्र है, यह स्वयं 'ध्रुवस्वामिनी' में दीख पड़ता है। 'प्राणीमात्र के अन्तस्तल में जाग्रत रहनेवाला धर्म'[2] यदि एक समय 'धर्म के नाम पर स्त्री की आज्ञाकारिता की पैशाचिक परीक्षा'[3] लेता है और उसके दुर्बल हृदय पर शास्त्र के मन्त्र कील की तरह गाड़ देता है[4] तो फिर वह कौन-सा धर्म है जो दूसरी बार उसकी सहायता करने के लिए आ जाता है। लगता है जैसे दुर्बल और बलवान् के अनुरूप ही धर्म स्वयं को ढाल लेता है। इसीलिए जो धर्म क्लीव मद्यप रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी को बाँध देता है वही उसके शक्तिशालिनी हो जाने पर उसके चरणों पर लोटने लगता है और आश्चर्य की बात यह है कि जो पुरोहित-वर्ग उनका विवाह कराता है वही उसको तोड़ने को भी व्यग्र हो उठता है! प्रसाद संभवतः यह भूल गए कि सारी समस्या के समाधान को वे बालू की भित्ति पर खड़ा कर रहे हैं! स्वस्त्ययन-कर्म के लिए ध्रुवस्वामिनी के शिविर में आया हुआ पुरोहित जब अविश्वास और असहयोग पर आधारित विवाह को विवाह न कहकर खेल कहता है,[5] तो तर्क के लिए कही गई उसकी बातें खोखली लगती हैं। प्रश्न उठता है कि जब यही खेल ध्रुवस्वामिनी के साथ खेला गया था तो उस समय वह पुरोहित कहाँ था? किन्तु, प्रसाद का पुरोहित और उसका धर्म बहुत भोला है! उसे राज्य में घटनेवाली घटनाओं का ज्ञान ही नहीं है (!) : "यह मैं क्या सुन रहा हूँ? विश्वास नहीं होता! यदि ये बातें सत्य हैं तो मुझे फिर से एक बार धर्मशास्त्र को देखना पड़ेगा।"[6] प्रत्यक्ष के लिए भी क्या इधर-उधर देखने की जरूरत होती है? वस्तुतः धर्म और पुरोहित का अनुमोदन अपने में इतना खोखला है कि उसकी तुलना में मंदाकिनी और

---

१. ध्रुवा, पृष्ठ १५२।
२-३. ध्रुवस्वामिनी पृष्ठ ५६, ५२।
४-५. देखिए 'ध्रुवस्वामिनी', पृष्ठ ५५, ५३।
६. ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५३।

ध्रु वस्वामिनी के अपने उद्गार कहीं अधिक प्रभावशाली और मार्मिक हैं ।

प्रसाद अपनी धारणाओं में अपनी सभी कृतियों में वद्ध दिखाई देते हैं । नारी के संरक्षण, स्वातंत्र्य और मोक्ष की समस्याएँ उनके सामने थीं, किन्तु नारी सम्वन्धी उनके विचार याथार्थवादी न होकर छायावादी थे । इसीलिए उनके नाटकों में प्रेम करने की भी एक ऋतु होती है और संघर्ष की भी (या संघर्ष कभी आता ही नहीं, द्वंद्व में समाप्त हो जाता है) । 'कामायनी' का श्रद्धा, इड़ा जैसा नारियों का वर्ग-विभाजन 'ध्रुवस्वामिनी' में भी दीख पड़ता है । प्रायः कोमा को भावुक और ध्रुवस्वामिनी को वौद्धिक कहने की परम्परा है । किन्तु, नारी का श्रद्धा-इड़ा या भावुक-वौद्धिक का प्रसादीय विभाजन उसकी सामूहिक समस्याओं के निदान तक पहुँचने में वाधा ही नहीं डालता, वरन् एक भ्रम का भी पोषण करता है ।

नारी सम्वन्धी वद्ध धारणाओं के कारण ही कोमा में 'एक करुणामयी मूर्च्छना' के दर्शन होते हैं । 'जनमेजय का नागयज्ञ' की सरमा की भाँति वह इस तथ्य को प्रतिपादित करती है कि 'रमणी का अनुराग कोमल होने पर भी वड़ा दृढ़ होता है··· । वह जव एक वार किसी पर मरती है तो उसी के पीछे मिटती भी है' (पृष्ठ ५९) । इसी के अनुरूप 'अजातशत्रु' में वे नारी के हृदय को 'कोमलता का पालना' और 'शीतलता की छाया' मानते हैं (पृष्ठ ७०) । 'अजातशत्रु' के लेखन-काल तक प्रसाद यह मानते आये हैं कि नारी पुरुषार्थ का ढोंग न करे, क्योंकि 'विश्व भर में सव काम सवके लिए नहीं हैं' (पृष्ठ ११८) । 'स्कन्दगुप्त' में आकर भी उनकी नारी सम्वन्धी धारणाओं में विशेष परिवर्तन नहीं आया दीखता है । उसमें भी वे नारी के आकर्पण को ही महत्ता देते हुए उसे पुरुष के प्रश्न का उत्तर और कुतूहल का विश्लेषण मानते हैं । उनकी दृष्टि में 'एक दुर्भेद्य नारी हृदय विश्व-प्रहेलिका का रहस्य वीज है' (स्कन्दगुप्त, पृष्ठ २९) । नारी के सम्वन्ध में प्रसाद की यह धारणा केवल छायावादी रोमान पर आधारित है और कोमा उसी की उपज है । प्रसाद के नाटकों में छायावादी रोमानी नारी के अतिरिक्त नारी का एक और रूप भी प्रकट हुआ है—'ऐसी रमणियां डाकुओं से भी भयानक होती हैं' और शक्ति तथा स्वत्व की आकांक्षा लेकर ववंडर उपस्थित करती हैं । ध्रु वस्वामिनी प्रसाद के अन्य नाटकों की छलना, शक्तिमती, अनन्तदेवी, विजया आदि की कोटि में तो नहीं आती किन्तु उसे अलका, विजयमाला, देवसेना आदि की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता । निश्चयतः वह इन दोनों कोटियों के नारी-रूपों का समन्वय है । वह नारी-स्वातंत्र्य के विचारों की वाहिका है—नारी-स्वातन्त्र्य के विचार यद्यपि प्रसाद के अन्य नाटकों की नारी पात्राएँ भी व्यक्त करती रही हैं, किन्तु क्रियाशीलता केवल ध्रु वस्वामिनी में ही दिखाई देती है । फिर भी उसको हाड़-मांस का व्यक्तित्व प्रसाद नहीं दे पाये हैं । यह कहा जाता है कि वह नारी की समस्याओं का उत्तर प्रस्तुत करती है, किन्तु सच पूछा जाये तो उत्तर कहां है ! उत्तर नारी को मुक्ति दिलाना हो सकता है, किन्तु मुक्ति किसलिए ? यदि यह मुक्ति फिर से एक नये निर्जीव वन्धन में वँधने के लिए है तो वह महत्त्वहीन

ही कही जायेगी ; यदि उसमें प्रेम का सूत्र न हो। पर 'ध्रुवस्वामिनी' में कोमा के अतिरिक्त प्रेम किसमें है ? उसकी तीव्रता न ध्रुवस्वामिनी में है और न चन्द्रगुप्त में। द्विवेदी युग की सुधारवादी नैतिकता के आतंक में न वह ध्रुवस्वामिनी के हृदय से तीव्र रूप में प्रकट होता है और न चन्द्रगुप्त के विनय और शील के आवरण में से। सारी अनुभूति गोपनीय और स्वगत है। ध्रुवस्वामिनी इतनी अशक्त और नारी की प्राचीन मान्यताओं से मंडित है कि वह एक 'विवाहित' नारी की पवित्रतावादी नैतिकता से विद्रोह नहीं कर पाती और चन्द्रगुप्त इतना उदासीन लगता है कि सब-कुछ मन में दबाए रहता है। जो कुछ होता है वह मन अथवा आत्मा की पुकार से नहीं, वरन् नियति की विवशता से ही। पात्र उसकी प्रतीक्षा करते हैं और प्रतीक्षा के बाद पुनर्लग्न की स्थिति आती भी है, तब रामगुप्त की हत्या हो चुकती है! उसकी हत्या कराके प्रसाद ने समस्या का सरलीकरण किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में जो समस्या है उसका हल पूर्वपति की हत्या कराके नहीं निकाला जा सकता और न किसी पति को मद्यप, क्लीव, क्षीव कहकर ही आज फांसी पर टांगा जा सकता है! प्रसाद ने जो कुछ किया वह एक व्यापक सामाजिक समस्या का नितान्त वैयक्तिक हल है। इसका कारण यही है कि उनका नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण अव्यावहारिक और प्राचीन रहा है। नवीनता के फेर में वे न ध्रुवस्वामिनी को नई नारी का रूप ही प्रदान कर सके और न प्राचीनता से ही उसे मुक्ति दिला सके।

जहाँ तक कथावस्तु की सोद्देश्यता और समस्या-निरूपण का प्रश्न है ; कोमा और शकराज का प्रणय-प्रसंग भी प्रसाद की भावुक और अबौद्धिक पकड़ का परिचायक है। वस्तुतः ध्रुवस्वामिनी और कोमा दोनों ही पीड़ित और विवश हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक विरोध करती है और दूसरी बलिदान देती है। किन्तु, इस बलिदान की सोद्देश्यता क्या है ? यह ठीक है कि ऐसा 'व्यक्तित्व जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यंग्य है'[1] जो 'ट्रेजेडी की सार-प्रतिमा' सा मन-प्राणों पर छा जाता है, किन्तु समस्याओं के बीच उसकी सार्थकता क्या है ? यदि वैषम्य दिखलाकर ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व को आभा और ओज प्रदान करना ही कोमा की सृष्टि का उद्देश्य है तो फिर कोमा समस्या की दृष्टि से अनजानी-अपहचानी नहीं है—हिन्दू-घरों में आदर्श मानी जानेवाली ऐसी कोमाएँ लाखों हैं, जिन्हें हम संस्कारों से जानते आए हैं। उसके माध्यम से प्रसाद समस्या का संकेत नहीं दे पाये। इसीलिए 'ध्रुवस्वामिनी' को मैं समस्या-नाटक मानने की अपेक्षा 'सैद्धांतिक नाटक' (thesis play) कहना उचित मानता हूँ। सैद्धांतिक नाटक में नाटककार समस्या को अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करता है और अपने चिन्तन के अनुसार ही किसी समाधान पर पहुँचता है। उसमें लेखक कथावस्तु, पात्र आदि का संयोजन अपने सुनिश्चित उद्देश्य के लिए करता है। निश्चयतः 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद कुछ सिद्ध करना चाहते हैं। इस दृष्टि से मुख्य बात यह है

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १३।

कि प्राचीन काल में भी मोक्ष होता था। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि सारा नाटक इसी बात को सिद्ध करने के लिए लिखा गया है।

'ध्रुवस्वामिनी' को प्रसाद का एक नया नाट्यप्रयोग माना जाता है किन्तु प्रसाद अपनी परम्परा से इसमें भी पूरी तरह कट नहीं पाये। यह दूसरी बात है कि वे अपने ऐतिहासिक नाटकों में भी युगीन समस्याओं का प्रकारांतर से समावेश करते रहे किन्तु मूलत: वे स्वच्छंदतावादी नाटककार हैं, जिसके कारण उनकी समस्याओं की पकड़ बहुत ढीली और अयथार्थवादी है। स्वच्छंदतावादी नाटककारों की भांति उन्होंने भी पुरानी रूढ़ियों का विरोध अवश्य किया है, किन्तु उनकी नाट्यदृष्टि धरती पर रमने की अपेक्षा कल्पना के पंखों पर सुदूर आकाश में विचरण करती रही है। इस प्रवृत्ति के कारण उनके नाटकों में पात्रों का आध्यात्मिक और अंतरंग पक्ष उभरा है तथा अपूर्व सौंदर्य-भावना और विराट् भव्य कल्पना की रंगीनी उनमें यत्र-तत्र दिखाई देती है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि प्रसाद के कई पात्र उनकी आत्मा की गहन अनुभूति के प्रतीक मात्र रह गए। कोमा और मिहिरदेव ऐसे ही पात्र हैं। कोमा के प्रणय की करुण-कोमल अनुभूति के चित्रण में लेखक की वृत्ति जितनी रमी है उतनी ध्रुवस्वामिनी के चित्रण में नहीं और ध्रुवस्वामिनी में भी ऐसी चरित्रगत विशेषताएँ है जो स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति से उद्भूत हैं। इस प्रवृत्ति के कारण ही प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' शीर्षक कृति इब्सेन, शॉ और गाल्सवर्दी के नाटकों की भांति समस्या का बौद्धिक विश्लेषण करने में सक्षम नहीं दिखाई देती। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि इस कारण वह हीन कृति मानी जायेगी। वस्तुत: यदि हम 'ध्रुवस्वामिनी' पर विचार करते हुए उसके समस्या-नाटक होने की अनिवार्यता न मानें तो स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के कारण भी इस नाटक की अपनी उपलब्धियां हैं। इन उपलब्धियों को देखते हुए उन पर यह लांछन लगाना उचित नहीं ठहरता कि वे पलायनवादी हैं। प्रसाद ने अपने अन्य नाटकों की भांति 'ध्रुवस्वामिनी' में भी युग-सत्य को इतिहास के कंकाल में देखने का प्रयास किया है।

यह निस्सन्देह सत्य है कि प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटक विषयवस्तु और चिन्तन की दृष्टि से अद्वितीय हैं, किन्तु शिल्प की कसौटी पर वे पूरी तरह खरे नहीं उतरते। उनके प्रारंभिक नाटकों में प्रौढ़ कल्पना और कारयित्री प्रतिभा का अभाव मिलता है। बाद के नाटकों—'चन्द्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'अजातशत्रु'— में विषयवस्तु का विस्तार नाटक के संघटन को व्याघात पहुँचाता है। वस्तुत: उनमें भावुकता को इतना प्रश्रय मिला है कि वे काव्यात्मक वातावरण से पूर्णत: अभिभूत लगते हैं जिससे उनमें सामाजिक यथार्थ के दर्शन नहीं होते। यही नहीं, संवादों की चमत्कारी प्रवृत्ति, भावुकता, काव्यमयता, दृश्यों के आधिक्य तथा भाषा की क्लिष्टता के कारण कुछ आलोचकों के बीच उनके नाटक शिथिल और अनभिनेय माने जाते हैं। संभवत: प्रसाद को अपने नाटकों पर आरोपित इन दोषों का भान था। कुछ को उन्होंने दोष माना, कुछ को नहीं। उदाहरण के लिए भाषा, रस, रंगमंच आदि के सम्बन्ध में उनके कुछ

सुनिश्चित विचार थे,[1] जिन्हें उन्होंने अपना दोष माना और उनका परिष्कार भी किया। 'राज्यश्री' अथवा 'विशाख' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक इसीलिए वे निरन्तर नाट्य-प्रयोग करते रहे। 'ध्रुवस्वामिनी' में उनकी प्रयोगशीलता स्पष्ट होकर सामने आई है। इस नाटक में उन्होंने उन आक्षेपों का परिहार करने का प्रयत्न किया है जो उनके पिछले नाटकों पर भाषा, भाव तथा अभिनेयता की दृष्टि से किये जाते थे। यह प्रसाद की ऐसी नाट्यकृति है जो अन्य नाटकों की भाँति 'औपन्यासिक प्रवृत्ति' से विहीन है। आकार की लघुता के साथ साथ उन्होंने इसमें एक अंक में एक ही दृश्य का निर्वाह करने का सफल प्रयत्न किया है। विदूषक के अभाव के साथ साथ इसमें नायक का भी अभाव है। नाटक को नायिकाप्रधान बनाने में प्रसाद ने कोई कसर नहीं रखी है, स्वगतभाषण कम रखे हैं और संवाद भी कम काव्यमय हैं। इस प्रकार वस्तुतत्त्व के संगठन, संकलन-त्रय, संघर्ष और कौतूहल सभी दृष्टियों से 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद के अन्य नाटकों से भिन्न है। यह प्रसाद का अकेला नाटक है जिसमें वस्तु और शिल्प का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया गया है।

'ध्रुवस्वामिनी' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसे पाश्चात्य नाट्यशैली में लिखा गया है। उसी के अनुरूप इसमें वस्तुतत्त्व के गठन में संघर्ष और द्वंद्व को नाटकीय कौशल के रूप में स्वीकार किया गया है। नाटक का आरम्भ ध्रुवस्वामिनी की मनोव्यथा के साथ उसकी आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष से हुआ है। धीरे धीरे उपहार की वस्तु घोषित किये जाने पर उसका सुप्त नारीत्व विद्रोह कर बैठता है। यही विद्रोह तृतीय अंक में शक्ति और साहस का रूप धारण करके अपने चरम पर पहुँच जाता है। बीच में दूसरा अंक यद्यपि प्रणय-प्रसंग से संबंधित है, किन्तु वह एक ओर चंद्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी और शकराज के संघर्ष का निर्णय करता है, दूसरी ओर एक और नए संघर्ष को जन्म देता है जिसके कारण आचार्य मिहिरदेव और उनकी पालिता पुत्री कोमा को निरादृत होकर शकराज को त्यागना पड़ता है। अप्रत्यक्ष रूप से यह संघर्ष भी ध्रुवस्वामिनी के संघर्ष का ही पूरक है। इस प्रकार प्रथम अंक में अंकुरित संघर्ष दूसरे अंक में चरम पर पहुँचता है और तीसरे में एक बार फिर विरोधी शक्तियों की टकराहट के बाद शमित हो जाता है। नाटक का प्रारंभ, विकास और अंत कथावस्तु के सुन्दर संयोजन को प्रकट करते हैं। प्रारंभ स्थिति की सूचना ही नहीं देता, वरन् कई चरित्रों को उभारकर ध्रुवस्वामिनी के आसपास के घुटन के वातावरण का निर्माण करता है। इसी घुटन के बीच कुबड़े, हिजड़े और बौने के दृश्य की सृष्टि की गई है जो नाटकीय परिस्थिति और वातावरण को और भी तीव्र बना देती है। नाटक का विकास शकराज के उपहार सम्बन्धी प्रस्ताव, कोमा के तिरस्कार तथा चन्द्रगुप्त द्वारा शकराज के संहार से हुआ है। ये सब घटनाएँ विभिन्न चरित्रों को उभारती हैं। अंत की दृष्टि से रामगुप्त की हत्या चन्द्रगुप्त के बजाय सामंतकुमार के हाथों दिखाकर प्रसाद ने अपनी नाट्यकला

---

१. देखिए उनकी कृति 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में तत्सम्बन्धी लेख।

का रोमानी परिचय दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नाट्यतत्त्वों, शिल्प आदि की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' में एक नई नाट्यप्रणाली का संकेत मिलता है।

डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने ध्रुवस्वामिनी के वस्तु-शिल्प पर विचार करते हुए कार्यावस्थाओं आदि का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार इस नाटक में 'कार्य की पाँच अवस्थाओं का विभाजन तीन अंकों में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। आरम्भ और प्रयत्न की प्रथम अंक में, प्राप्त्याशा की द्वितीय अंक में और नियताप्ति और फलागम की तृतीय में स्थापना हुई है।'[1] वे आरम्भ नाम की कार्यावस्था वहाँ से मानते हैं जहाँ ध्रुवस्वामिनी अपनी मुक्ति का निश्चय प्रकट करती है कि 'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास कर लिया है।' इसके उपरान्त प्रयत्न की अवस्था मानी गई है। शकराज के विरुद्ध उद्यत होने का निश्चय फलप्राप्ति का प्रयत्न है और द्वितीय अंक में प्राप्त्याशा के लिए प्रयत्न जारी रहता है। तृतीय अंक में ध्रुवस्वामिनी, मंदाकिनी और चन्द्रगुप्त की उक्तियाँ फल-प्राप्ति की संभावनाओं को दृढ़ बनाती हैं और अन्ततः रामगुप्त की मृत्यु जैसे उसे निश्चित कर देती है।

प्रसाद की नाट्यकृतियों के शिल्प के ऐसे शास्त्रीय विवेचन से कोई हानि है, यह अस्वीकार करते हुए भी हमें यह लगता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे प्रसाद के नवीन नाट्यप्रयोगों में अर्थप्रकृतियों, कार्यव्यापारों और सन्धियों को खोजना उपयुक्त न होगा। वैसे, खोजने के लिए तो कोई उन्हें अंग्रेजी के नाटकों में भी खोज सकता है किन्तु स्वयं संस्कृत-नाट्यशास्त्र के ये रूढ़ नियम यदि संस्कृत के नाटकों में न मिलें तो निराशा हो सकती है। वस्तुतः शास्त्रीय बन्धन स्वयं कालिदास, श्रीहर्ष आदि ने नहीं माने; फिर प्रसाद से उनकी आशा करना उचित नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस की योजना के लिए प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और संधियों के संयोजन का विधान किया गया है। 'ध्वन्यालोक' में इसी ओर ध्यान दिलाया गया है,[2] किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में न सही रूप से प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, सन्धियों आदि को जानबूझकर ठूंस दिया गया है और न शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार रस की निष्पत्ति ही कराई गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रसाद नाटकों में रस के प्रबल पक्षपाती थे,[3] किन्तु रस का सफल परिपाक शायद ही उनके किसी एक नाटक में हुआ हो। 'ध्रुवस्वामिनी' में चन्द्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी के उत्साह और रामगुप्त के खल व्यवहार के माध्यम से प्रसाद ने रस की सृष्टि का प्रयत्न किया है, किन्तु रामगुप्त की हत्या आज के विवेकशील मानव को रसानुभूति में सहायता नहीं पहुँचाती।

फिर भी, आज नाटक को न तो भारतीय नाट्यशास्त्र की रूढ़ियों से परखना

---

१. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ १६०।
२. देखिए 'ध्वन्यालोक', ३।१२।
३. देखिए 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ८०।

उचित है और न शिल्प-विधान की संकलनत्रय आदि यवनानी रूढ़ियों के आधार पर। स्वच्छन्दतावादी नाटककार की भाँति प्रसाद ने स्वयं परम्परागत रूढ़ियों को न्यूनाधिक रूप में अस्वीकार किया है। आवश्यकता इस बात की है कि उनकी नाट्य-कृतियों का अध्ययन वस्तु, शिल्प, संवाद, भाषा और अभिनेयता की बद्ध धारणाओं से मुक्त होकर किया जाये। कोई भी नाट्यकृति यांत्रिक सृष्टि नहीं होती—वह नाटककार के संपूर्ण व्यक्तित्व और बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम होती है। इसी प्रकार किसी नाट्यकृति को यथार्थवाद, आदर्शवाद आदि के चौखटों से मापना भी कृति के सही मूल्यांकन में बाधक हो सकता है। आधुनिक नाट्यालोचना इन सीमाओं से आगे बढ़ चुकी है। नाटक के लिए आज शिल्प से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उसका प्रतिपाद्य हो गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' का मूल्यांकन इसी दृष्टि से होना चाहिए।

●